कल्याण मन्दिर

उपाध्याय अमर मुनि

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा.

सन्मति-साहित्य-रत्न-माला का ८ वाँ रत्न

कल्याण - मन्दिर - स्तोत्र

उपाध्याय अमरमुनि

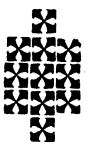

सन्मति - ज्ञानपीठ, आगरा

पुस्तक :
कल्याण-मन्दिर स्तोत्र

संस्करण :
षष्ठम् : १ जनवरी १९९२

मूल्या :
३.०० रुपया

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ,
लोहामण्डी–आगरा–२

वीरायतन-राजगृह
पिन : ८०३११६
(नालंदा-बिहार)

मुद्रक :
वीरायतन मुद्रणालय, राजगृह

प्रकाशकीय

कल्याण - मन्दिर स्तोत्र का यह षष्ठम संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत संस्करण की अपनी अनेक विशेषताएँ हैं, जिन्हें पाठक स्वयं जान सकेंगे। जैसे कि चिन्तामणि स्तोत्र का हिन्दी भावार्थ, जो अभी तक कहीं भी प्राप्त नहीं था, इसमें प्रस्तुत किया गया है। कल्याण-मन्दिर स्तोत्र का यह षष्ठम् संस्करण साधकों के कर - कमलों में समर्पित करते हुए हमे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आशा है, पाठक - गण प्रस्तुत पुस्तक का अपने नित्य - नियम में प्रयोग करके अपने जीवन को पावन और दिव्य गुणों से मंडित करेंगे।

मन्त्री

सन्मति ज्ञानपीठ

अनुक्रमणिका

१. कल्याण - मन्दिर संस्कृत ... १–५६
अर्थ और टिप्पणी - सहित

२. कल्याण - मन्दिर हिन्दी भाषा ... ५७–६७

३. उपसर्गहर - स्तोत्र प्राकृत ... ६८–७१
अर्थ-सहित

४. चिन्तामणि-स्तोत्र संस्कृत ... ७२–८१
अर्थसहित

५. चिन्तामणि - स्तोत्र (हिन्दी) ... ८२–८७

कल्याण-मन्दिर-स्तोत्र

[१]

कल्याण – मन्दिरमुदारमवद्य–भेदि,
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रि-पद्मम् ।
संसार-सागर–निमज्जदशेष-जन्तु–
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ।।

कल्याण के मन्दिर—धाम, उदार—महान्, पाप के नाश करने वाले, संसारिक दुःखों के भय से आकुल प्राणियों को अभय प्रदान करने वाले, अनिन्दित—प्रशंसनीय, संसाररूपी सागर में डूबते हुए सब जीवों को जहाज के समान आधारभूत, श्रीजिनेश्वरदेव के चरण-कमलों को भलीभाँति प्रणाम करके—

[२]

यस्य स्वयं सुरगुरुर् गरिमाम्बुराशेः,
स्तोत्रं सुविस्तृत-मतिर् न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मय-धूमकेतोस्-
तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ।।

जो कमठ दैत्य के अभिमान को भस्म करने के लिए धूमकेतु के समान थे, जो गुण-गरिमा के अपार सागर थे, जिनकी स्तुति करने के लिए अतिशय बुद्धिशाली देवता का गुरु स्वयं बृहस्पति भी समर्थ नहीं हो सका, आश्चर्य है— उन तीर्थपति श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करूँगा ?

टिप्पणी

भगवान् पार्श्वनाथ जैन-धर्म के तेईसवें तीर्थङ्कर हैं। भगवान् जब राजकुमार थे, तो एक बार उस युग के बहुत बड़े कर्म-काण्डी तपस्वी कमठ को अहिंसा-धर्म का उपदेश दिया था और उसकी धूनी में से जलते हुए नाग-नागिन को बचाया था। इस पर वह तपस्वी बड़ा क्रुद्ध हुआ और भगवान् से द्वेष रखने लगा। वह मरकर मेघमाली देव हुआ। इधर भगवान् ने राज्य-त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की और वन में साधना करने लगे। कमठदेव ने वहाँ भगवान् को वर्षा आदि का बहुत कष्ट दिया, परन्तु भगवान् अटल-अचल रहे। आखिर आध्यात्मिक बल के आगे पशुबल की हार हुई, और कमठ चरणों में गिरा। 'कमठस्मय-धूमकेतोः' पद से आचार्य ने उसी घटना की ओर संकेत किया है।

धूमकेतु एक कुग्रह होता है। जब वह उदय होता है, तो संसार में सर्वनाश के दृश्य पैदा कर देता है। कमठ के मिथ्या अभिमान के लिए भगवान् वस्तुतः धूमकेतु ही थे। कमठ तो

पाखण्ड का एक प्रतिनिधि है। अतः उपलक्षण से पाखण्डमात्र को नष्ट करने के लिए भगवान् धूमकेतु के रूप में उस समय उदय हुए थे। धूमकेतु का दूसरा अर्थ अग्नि भी होता है, क्योंकि धूम - धुँआ और केतु—ध्वजा, यानि धुँए की ध्वजा-वाली अग्नि। यह अर्थ भी ठीक है। भगवान् पाखण्ड को भस्म करने के लिए अग्नि के समान थे।

देवताओं का गुरु बृहस्पति कितना अधिक बुद्धिमान होता है? जब वह भी भगवान् की स्तुति पूर्णरूप से नहीं कर सका, तो भला मैं तुच्छ - बुद्धि, क्या स्तुति कर सकता हूं?—इस प्रकार आचार्य अपनी लघुता और भगवान् की महत्ता सूचित करते हैं।

[३]

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश! भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर् यदि वा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल धर्मरश्मेः?

हे नाथ! आपके अनन्त महामहिम स्वरूप को, साधारण रूप से भी वर्णन करने के लिए हमारे जैसे पामर जीव किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं?

दिन में अन्धा बन कर समय गुजारने वाला उल्लू का पुत्र, कितना ही चतुरता का अभिमानी ढीठ क्यों न

हो, क्या वह प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के उज्ज्वल स्वरूप का कुछ निरूपण कर सकता है ? नहीं कर सकता।

टिप्पणी

आचार्य ने उल्लू के बच्चे का उदाहरण बड़ा ही जोरदार दिया है। उल्लू खुद ही दिन में अन्धा रहता है और फिर उसके बच्चे की अन्धता का तो कहना ही क्या है ! अस्तु, उल्लू का बच्चा यदि सूर्य के रूप का अधिक तो क्या, कुछ भी वर्णन करना चाहे तो क्या कर सकता है ? नहीं कर सकता। जन्म धारण कर जिसने कभी सूर्य को देखा ही न हो, वह सूर्य का क्या खाक वर्णन करेगा ? आचार्य कहते हैं कि भगवन् ! मैं भी अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धा होकर आपके दर्शन से वञ्चित रहा हूं। अत. अनन्त ज्योतिर्मय आपके स्वरूप का भला क्या वर्णन कर सकता हूं ? आप ज्ञान - सूर्य और मैं अज्ञानान्ध उलूक ! दोनों का क्या मेल ?

[४]

मोह - क्षयादनुभवन्नपि नाथ ! मर्त्यो,
नूनं गुणा ् गणयितुं न तव क्षमेत।
कल्पान्त-वान्त-पयसः प्रकटोऽपि यस्मान्-
मीयेत केन जलधेर् ननु रत्न-राशिः ?

हे प्रभो ! मोहनीय - कर्म को क्षय कर देने के बाद केवल - ज्ञान की भूमिका पर पहुँचा हुआ महापुरुष, निश्चय ही आपके गुणों को जान तो लेता है,

परन्तु उनका पूर्णरूप से वर्णन तो वह भी नहीं कर सकता।

प्रलयकाल में पानी के न होने पर समुद्र की रत्न-राशि स्पष्टरूप से दिखाई तो देने लगती है, परन्तु क्या कोई उनकी गिनती कर सकता है? नहीं कर सकता।

टिप्पणी

पहले के श्लोक में बताया गया था कि जिसने भगवान् के दर्शन नहीं किए, वह भगवान् का स्वरूप क्या बता सकता है ? इस पर प्रश्न हो सकता है कि तुम नहीं बता सकते हो, केवलज्ञानी तो बता सकते होंगे ? वे तो मोहकर्म को क्षय करने के बाद उत्पन्न होने वाले अनन्त केवलज्ञान से सब-कुछ जान-देख सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत पद्य में दिया गया है कि केवलज्ञानी भी भगवान् के स्वरूप का वर्णन पूर्णरूप से नहीं कर सकते ! जानना एक बात है और वर्णन करना दूसरी बात। केवल - ज्ञानी अनन्त - गुणों को जान तो लेते हैं, परन्तु अनन्त का वर्णन तो सम्भव नहीं है। अनन्त गुण, शब्दों के घेरे में नहीं आ सकते। अस्तु,भगवान् सदा अवर्णनीय ही रहते हैं।

[५]

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि,
कर्तुं स्तवं लसदसंख्य – गुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निज - बाहु - युगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः !

हे नाथ ! यह ठीक है कि मैं जड़-बुद्धि हूँ और आप अनन्त उज्ज्वल गुणों के आकर—खान हैं। तथापि मैं प्रेम - वश आपकी स्तुति करने हेतु तैयार हो गया हूँ।

यह ठीक है कि समुद्र विशाल है और बालक के हाथ बहुत छोटे हैं। फिर भी क्या बालक अपने नन्हे - नन्हे हाथों को फैलाकर, अपनी कल्पना के अनुसार समुद्र के विस्तार का वर्णन नहीं करता ? अवश्य करता है।

टिप्पणी

प्रश्न हो सकता है, जब भगवान् के अनन्त गुणों का अनन्त ज्ञानी भी वर्णन नहीं कर सकते, तो फिर तुम तो चीज ही क्या हो ? क्यों व्यर्थ ही अस्थाने प्रयास कर रहे हो ? आचार्य ने प्रस्तुत पद्य में इसी प्रश्न का उत्तर दिया है, और दिया है बहुत ही ढंग से।

कोई छोटा बालक समुद्र देख आया। लोग पूछते हैं—'कहो भाई, समुद्र कितना बड़ा है?' बालक झट अपने नन्हे-नन्हे हाथ फैलाकर कहता है—'इतना बड़ा।' बालक का यह वर्णन, क्या समुद्र की विशालता का सही का वर्णन है ? नहीं। फिर भी बालक अपनी कल्पना के अनुसार महातिमहान् को अणु बनाकर वर्णन करता है, और पूछने वाले प्रसन्न होते हैं। आचार्य कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार यह मेरा भगवद्-गुणों के वर्णन का प्रयास है। जैसा कुछ आता है—कल्पना दौड़ाता हूं, चुप नहीं बैठ सकता। यह मेरा बाल-प्रयास भक्त जनता को कुछ-न-कुछ आमोद प्रदान करेगा ही।

[६]

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ?
जाता तदेवमसमीक्षित – कारितेयं,
जल्पन्ति वा निज-गिरा ननु पक्षिणोऽपि ।।

हे जगत् के स्वामी ! जबकि आपके गुणों का यथार्थ रूप से वर्णन करने में बड़े-बड़े प्रसिद्ध योगी भी समर्थ नहीं हो सकते हैं, तब भला मेरी तो शक्ति ही क्या है ! यह स्तुति का कार्य, मैंने विना बिचारे ही शुरू कर दिया है। वस्तुतः यह कार्य मेरी पहुंच के बाहर है।

अरे, मैं हताश क्यों होता हूँ ? शक्ति नहीं तो क्या है, यथाशक्य प्रयत्न तो करुँगा। पक्षियों को मनुष्य की भाषा में बोलना नहीं आता है, तो क्या हुआ ? वे अपनी अस्पष्ट भाषा में ही बोलकर काम चला लेते हैं।

टिप्पणी

आचार्य ने अपने को पक्षी की उपमा देकर लघुता-प्रदर्शन में कमाल कर दिया है। कितना गम्भीर दार्शनिक आचार्य और कितना अधिक विनम्र ?इस विनम्रता पर हर कोई भक्त बलि-हार हो जायगा ? जिस प्रकार पक्षी अपनी अव्यक्त भाषा में ही चूँ-चाँ करके अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता है, उसी प्रकार मैं भी, जैसा मुझे आता है, बोल कर अपने भक्तिमय

मनोगत भावों को यथाशक्ति शब्दों का रूप देने के लिए प्रयत्न करता हूं—आचार्य का यह कथन अत्यन्त ही हृदय-स्पर्शी है।

[७]

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते,
नामाऽपि पाति भवतो-भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहत-पान्थ-जनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ।।

हे राग - द्वेष के विजेता जिन ! आपके अचिन्त्य महिमा वाले स्तवन के महत्त्व का तो कहना ही क्या है, यहाँ तो केवल आपका नाम भी त्रिभुवन के प्राणियों को दुःख से बचा सकता है।

गर्मी के दिनों में भयंकर धूप से व्याकुल हुए मुसाफिरों को आनन्द प्रदान करने वाले कमल-सरोवर का तो कहना ही क्या है, उसकी केवल ठंडी हवा ही उन्हें तृप्त कर देती है।

[८]

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्म-बन्धाः ।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वन - शिखण्डिनि चन्दनस्य ।।

हे प्रभो ! जब आप ध्यानशील भक्त के हृदय में

विराजमान हो जाते हैं,तो उसके भयंकर - से - भयंकर मजबूत कर्म-बन्धन भी तत्काल ही शिथिल हो जाते हैं, ढीले पड़ जाते हैं।

वन - मयूर ज्यों ही चन्दन के वृक्ष की ओर आता है, त्यों ही चन्दन पर लिपटे हुए भयंकर सर्प सहसा शिथिल हो जाते हैं—भागने लगते हैं। मोर के सामने साँप ठहर ही नहीं सकते।

टिप्पणी

कवि-प्रसिद्धि है कि चन्दन के वृक्ष पर साँप लिपटे रहते हैं। चन्दन और साँप ! बहुत बुरा मेल है। आत्मा भी चन्दन-वृक्ष के समान है। उसमें सद्गुणों की बहुत उत्कृष्ट सुगन्ध है,परन्तु सब ओर कर्मरूपी काले नाग जहर उगल रहे हैं, आत्मा-रूपी चन्दन को दूषित कर रहे हैं। परन्तु, ज्यों ही भक्त भगवान् का ध्यान करता है, भगवान् को अपने मन-मन्दिर में विराजमान करता है, त्यों ही कर्म सहसा शिथिल होकर, उसी प्रकार भागने लगते हैं, जिस प्रकार मोर के आने पर चन्दन पर से साँप।

[९]

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रैरुपद्रव - शतैस् त्वयि वीक्षितेऽपि।
गो - स्वामिनि स्फुरित-तेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः॥

हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शन - मात्र से भक्त - जन सैकड़ों भयंकर उपद्रवों से शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। आपके दर्शन और संकट ? मेल ही नहीं बैठता।

गाँव के पशुओं को चोर रात्रि में चुरा ले जाते हैं, परन्तु ज्यों ही बलवान् तेजस्वी ग्वाला दिखाई देता है, त्यों ही पशुओं को छोड़ कर वे झट-पट भाग खड़े होते हैं। मालिक के सामने चोर कहीं ठहर सकते हैं ?

टिप्पणी

मनुष्य संकटों से तभी तक घिरा रहता है, जब तक कि वह भगवान् के श्रीचरणों में अपने आपको अर्पण नहीं कर देता है, प्रभु के दर्शन नहीं करता है। भगवान् का ध्यान करते ही सब संकट चकनाचूर हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में चोरों का उदाहरण बहुत सुन्दर दिया है।

'गोस्वामी' का अर्थ है— 'गो का स्वामी।' 'गो' का अर्थ किरण भी होता है। अतः किरणों के स्वामी सूर्य के उदय होते ही चोर भाग जाते हैं, यह अर्थ भी लिया जाता है। 'गो' का अर्थ पृथ्वी भी है, अतः पृथ्वी के स्वामी राजा को देखते ही चोर भागने लगते हैं, यह अर्थ भी प्रकरण संगत है। 'गो' का अर्थ गाय भी है, अतः गोस्वामी ग्वाला भी होता है। भावार्थ में यह अर्थ लिखा जा चुका है।

[१०]

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून—
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥

हे जिनेश्वरदेव ! आप भव्य - जीवों को संसार-सागर से पार उतारने वाले तारक कैसे बन सकते हैं ? क्योंकि भव्य - जीव जब संसार - सागर से पार उतरते हैं, तब वे ही आपको अपने हृदय में धारण करते हैं, आप उनको कहाँ धारण करते हैं ?

हाँ, ठीक है—समझ में आ गया । अन्दर पवन से भरी हुई मशक जब जल में तैरती है, तब वह अन्दर में स्थित पवन के प्रभाव से ही तो तैरती है, स्वयं कहाँ तैरती है ?

टिप्पणी

प्राय. देखा जाता है कि अपने अन्दर में स्थित यात्री को धारण करके नौका ही उसे पार उतारती है, न कि अन्दर बैठा हुआ यात्री नौका को पार उतारता है । अस्तु, आचार्य इसी धारणा के आधार पर भगवान् से भक्तिपूर्ण ठिठोली करते हैं कि—'आप हम भव्यों को कहाँ पार उतारते हैं, प्रत्युत हम ही आपको हृदय में धारण करते हैं,अतः पार उतरते हैं । जब हम आपका ध्यान करते हैं, तब आप तो हमारे मन में रहते हैं,

बाहर कहाँ ? हम तैरने लगे तो झट हमारे अन्दर विराजमान हो गए। अतः सच्चे तारक तो हम हुए और यश ले लिया है आपने ?

श्लोक के उत्तरार्द्ध में उक्त धारणा का बड़ा ही सुन्दर निराकरण किया है। मशक के अन्दर स्थित हवा मशक को पार उतारती है या बाहर में स्थित मशक के अन्दर की हवा को ? किस खूबी से यह उदाहरण दिया गया है। कमाल है ! कभी-कभी अनोखे तारक अन्दर रह कर भी दूसरों को भव - सागर से पार कर देते हैं।

[११]

यस्मिन् हर - प्रभृतयोऽपि हत - प्रभावाः,
सोऽपि त्वया रति - पतिः क्षपितः क्षणेन ।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाऽथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर - वाडवेन ॥

हे देव ! जिस कामदेव को जीतने में सुप्रसिद्ध हरि-हर आदि देव भी हत-प्रभ यानी पराजित हो गए, उसी त्रिभुवन-विजयी कामदेव को आपने क्षणभर में नष्ट कर दिया। महान् आश्चर्य है !

अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? जो जल संसार के समस्त अग्नि-काण्डों को बुझाकर शान्त कर सकता है, उसी जल को समुद्र का प्रचण्ड वड़वानल जला कर क्या नष्ट नहीं कर देता है ? अवश्य कर देता है।

टिप्पणी

पौराणिक साहित्य में हजारों कहादियाँ हैं कि हरि-हर आदि देवता किस प्रकार वासना के वश थे और उसकी तृप्ति के लिए यत्नशील थे ? महादेवजी के पास पार्वती थी, तो विष्णु के पास लक्ष्मी ! साधारण जन की तो स्थिति ही विचित्र है। अस्तु, आचार्य आश्चर्य प्रगट करते हैं कि जिस काम के आवेश में सारा संसार व्याकुल है, उसको हे प्रभो ! आपने क्षणभर में कैसे पराजित कर दिया ? समुद्र के बड़वानल का उदाहरण इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। जल हमेशा ही अग्नि को नष्ट करता है, परन्तु समुद्र की बड़वानल-अग्नि समुद्र के जल को ही भस्म कर देती है। महान् लोगों की महान् ही बाते हैं।

[१२]

स्वामिन्नल्प-गरिमाणमपि प्रपन्नास्-
त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ?
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥

हे प्रभो ! बड़े भारी आश्चर्य की बात है कि अनंतानन्त गरिमा-गुरुता वाले आपको, अपने हृदय में धारण करके भी भक्त - जन बहुत हलके रहते हैं और संसार समुद्र को झटपट पार कर जाते हैं। इतना भार उठाकर भी इतना हल्कापन ! महान् आश्चर्य !

इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। वे जो कुछ भी करके दिखा दें, वह असम्भव भी सम्भव है। उनका प्रत्येक कार्य चमत्कारमय होता है, रहस्य-पूर्ण होता है।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि भगवान् अनन्त गरिमा वाले हैं, फिर भी उनको हृदय में धारण कर भक्तजन बड़े हल्के रहते हैं और शीघ्र ही संसार-सागर से पार हो जाते हैं। यहाँ विरोधाभास अलंकार है। गरिमा का अर्थ– भार-वजन होता है। हाँ, तो जो भारी है, उसे धारण कर कोई कैसे हल्का रह सकता है ? जिस नाव में भार हो, और वह भी अनन्त, भला वह हल्की रहकर झटपट कैसे समुद्र को पार कर सकती है ?

विरोध-परिहार के लिए आचार्य ने यहाँ 'गरिमा' का अर्थ भार न लेकर, कुछ और ही लिया है। वह यह कि 'भगवान् अनन्तगुणों के गौरव से यानी महिमा से युक्त हैं....।' गरिमा का अर्थ 'गौरव' भी होता है। प्रथम 'भार' अर्थ से विरोध आता है, तो दूसरे 'गौरव' अर्थ से उसका परिहार हो जाता है।

[१३]

क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा वत कथं किल कर्म-चौराः ?
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिराऽपि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ?

हे प्रभो ! आपने क्रोध को तो पहले ही नष्ट कर दिया था, तब फिर कर्म शत्रुओं को कैसे नष्ट किया ? क्योंकि बिना रोष के भला कोई किसी को कैसे नष्ट कर सकता है ? नहीं कर सकता।

अहो, मैं भूल रहा हूं ! क्रोध की अपेक्षा क्षमा की शक्ति ही तो बहुत बड़ी है। आग की अपेक्षा हिम-वर्फ की शक्ति ही तो महान् है। हम देखते हैं कि जब शीत-काल में अत्यन्त शीत होने के कारण बिल्कुल ठंडा हिम-पाला पड़ता है, तब हरे-भरे वृक्षोंवाले सघन वन भी जलकर ध्वस्त हो जाते हैं।

टिप्पणी

संसार में देखा जाता है कि प्राय. क्रोधी मनुष्य ही अपने शत्रुओं का नाश करते हैं। जो लोग क्षमाशील होते हैं, उनसे किसी का कुछ भी अपकार नहीं होता। इसी बात को लेकर आचार्य आश्चर्य करते हैं कि– 'भगवन् ! आपने क्रोध को तो बहुत पहले ही, आध्यात्मिक विकासक्रम के अनुसार नववें गुण-स्थान में ही नष्ट कर दिया था, फिर क्रोध के आभाव में चौददवें गुण स्थान तक के कर्म-रूपी शत्रुओं को कैसे परास्त किया ? परन्तु श्लोक के उत्तरार्द्ध में वर्फ का उदाहरण स्मृति में आते ही आचार्य का समाधान हो जाता है। वर्फ कितना अधिक ठंढा होता है, पर हरे-भरे वनों को किस प्रकार जला कर नष्ट कर डालता है ? आग से जले हुए वृक्ष तो सम्भव है, समय पाकर

फिर भी हरे हो जाएँ, परन्तु हिम-दग्ध वृक्ष कभी भी हरे नहीं हो पाते। अस्तु, शीतल क्षमा की शक्ति ही महान् है।

[१४]

त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज - कोश - देशे।
पूतस्य निर्मलरुचेर् यदि वा किमन्य-
दक्षस्य संभवि पदं ननु कर्णिकायाः ॥

हे जिन ! आप परमात्मस्वरूप हैं, कर्म-मल से रहित शुद्ध अक्ष- आत्मस्वरूप हैं। अतएव बड़े - बड़े योगी लोग अपने हृदय-कमल की कर्णिका में आपको खोजते हैं, आपका ध्यान करते हैं।

जिस प्रकार कमल के अक्ष—बीज का स्थान कमल की कर्णिका है, उसी प्रकार आप भी जब कर्म - मल से रहित होकर पवित्र निर्मल कान्तिवाले अक्ष-परमात्मा बन गए तो आपका स्थान भी हृदय-कमल की कर्णिका को छोड़कर अन्यत्र कहाँ हो सकता है ? अक्ष तो कमल की कर्णिका में ही मिलेगा न ?

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि योगी लोग भगवान् का ध्यान हृदय - कमल में क्यों करते हैं ? वहीं क्यों खोजते है ? कमल में तो अक्ष— कमलगट्टा रहता है, वहाँ

भगवान् की खोज कैसी ? आचार्यश्री स्वयं उत्तर देते हैं कि भगवान् भी तो अक्ष ही हैं। अतः योगी लोग समझते हैं कि वे भी कहीं न कहीं कमल में ही मिलेंगे। साधारण कमल में न मिलेंगे, तो चलो हृदय - कमल में ही खोजें। आखिर अक्ष मिलेगा कमल में ही।

श्लोक में आये हुए 'अक्ष' शब्द के 'कमलगट्टा' और 'आत्मा' इस प्रकार दो अर्थ होते हैं। 'अक्ष्णाति-जानाति इति अक्षः—आत्मा।'

[१५]

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥

हे जिनेन्द्र ! विशुद्ध हृदय से आपका ध्यान करने से, संसार के भव्य जीव, शीघ्र ही इस शरीर को छोड़कर शुद्ध परमात्म-दशा को प्राप्त कर सकते हैं।

संसार में हर कोई देख सकता है कि प्रचण्ड अग्नि का सम्पर्क पाते ही सुवर्ण-धातु अपने पाषाण आदि पूर्व मिश्रित रूप को छोड़कर शीघ्र ही शुद्ध सुवर्णत्व-दशा को प्राप्त हो जाती है।

टिप्पणी

भगवान् का ध्यान अतीव चमत्कारमय होता है। इहलोक और परलोक का वैभव तो क्या चीज है, भगवान् का भक्त तो जन्म-मरण के प्रतीक इस क्षण-भंगुर शरीर का सदा के लिए परित्याग कर परमात्मा भी बन जाता है। हमारा शरीर आत्मा से नहीं पैदा हुआ है, कर्म से पैदा हुआ है। अत ज्यों ही भगवान् का ध्यान करते हैं, त्यों ही आत्मा का कर्म-मल जल-कर दूर हो जाता है, शुद्ध आत्म-तत्त्व निखर आता है, आत्मा सदा के लिए अजर-अमर परमात्मा हो जाता है। यह जैन-संस्कृति का ही आदर्श है कि यहाँ भक्त भी भगवान् का ध्यान करते - करते अन्त में भगवान् बन जाता है।

कैसे बन जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य स्वर्ण का उदाहरण उपस्थित करते हैं। खान से स्वर्ण को धातु मिट्टी और पत्थर के रूप में बाहर आती है। फिर धधकती भट्ठियों में जब उसे साफ करते हैं, तो मिट्टी-पत्थर अलग हो जाता है और स्वर्ण अलग। शुद्ध होने के लिए स्वर्ण को कितनी बार भट्ठी में से गुजरना होता है और अन्त में मल साफ होते-होते शुद्ध स्वर्ण हो जाता है। 'टंच' अग्नि-परीक्षा को कहते हैं। सौ बार अग्नि में परीक्षित होकर शुद्ध हुआ स्वर्ण 'सौटंची' कहलाता है। हाँ, तो अध्यात्म-पक्ष में भी आत्मा स्वर्ण है, उस पर कर्म-रूप मल चढ़ा है। भगवान् का ध्यान प्रचण्ड - अग्नि है। तीव्र ध्यानाग्नि का स्पर्श पाकर कर्म - मल नष्ट हो जाता है और आत्मा पूर्णरूप से शुद्ध होकर सदा के लिए परमात्मा बन जाता है।

[१६]

अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं,
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ?
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि,
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥

हे जिनेन्द्र ! जिस शरीर के मध्य भाग—हृदय में भव्य प्राणी आपका निरन्तर ध्यान करते हैं, आश्चर्य है, आप उसी शरीर को नष्ट कर देते हैं ! यह कैसी उलटी गति है, कुछ समझ में नहीं आता।

अथवा आपका यह कार्य सर्वथा उचित ही है। जब महापुरुष मध्यस्थ हो जाते हैं, बीच में पड़ जाते हैं, तो विग्रह (शरीर और कलह) को पूर्णतया समाप्त कर देते हैं।

टिप्पणी

"संसार में यह रीति प्रचलित है कि जो जहाँ रहता है, अथवा जहाँ जिसका ध्यान - सम्मान आदि किया जाता है, वह उस जगह का विनाश नहीं करता। परन्तु, हे भगवान् ! आप भव्य-जीवों के जिस शरीर में हमेशा भक्ति - भावपूर्वक ध्यानरूप से चिन्तन किए जाते हैं, आप उन्हें उसी विग्रह—शरीर को नष्ट करने का उपदेश देते हैं। यह तो आपके लिए किसी तरह भी योग्य नहीं है।" भगवान् का उपदेश कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर विदेहमुक्ति—मोक्ष प्राप्त करने का है।

आचार्यश्री को पहले इहलोक - विरुद्ध बात पर अतीव आश्चर्य होता है। परन्तु जब उनकी दृष्टि 'विग्रह' शब्द पर जाती है, तब सहसा उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। श्लोक में आए 'विग्रह' शब्द के दो अर्थ हैं—एक 'शरीर' और दूसरा 'क्लेश'। महापुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जब वे मध्यविवर्ती होते हैं, तो वे विग्रह का नाश कर देते हैं। जब दो आदमी आपस में झगड़ते हैं, तब समझौता कराने के लिए कोई विशिष्ट पुरुष मध्यविवर्ती—मध्यस्थ होता है और विग्रह कलह को शान्त करा देता है। विशिष्ट पुरुष विग्रह को सहन नहीं कर सकते। न स्वयं विग्रह रखते हैं और न किसी दूसरे को रखने देते हैं। शरीर भी विग्रह है। अतः उसे भी नहीं रहने देते।

'मध्यविवर्ती' शब्द के भी दो अर्थ हैं—मध्यस्थ—बीच में रहने वाला और मध्यस्थ - राग-द्वेष से रहित वीतराग। भगवान् मध्यस्थ हैं, भक्तों के हृदय में भी रहते हैं और वीतराग भी हैं।

[१७]

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या,
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनु - चिन्त्यमानं,
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥

हे जिनेन्द्र ! जब अध्यात्म-चेतनावाले मनीषी पुरुष अपनी आत्मा का आपसे अभेदरूप में, अर्थात् परमात्म-

रूप में ध्यान करते हैं, तो उनकी वही साधारण आत्मा भी आप जैसी ही प्रभावशाली बन जाती है, परमात्मा हो जाती है।

पानी को भी यदि सर्वथा अभेदबुद्धि से अमृत समझ कर उपयोग में लाया जाय, तो क्या वह अमृत नहीं हो जाता है और विष - विकार को दूर नहीं कर देता है?

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में शुद्ध निश्चय दृष्टि का उल्लेख किया गया है। जैन - धर्म निश्चय - प्रधान धर्म है। वह संसार की समस्त आत्माओं को अन्तरंग ज्योति के रूप में भगवत्स्वरूप ही मानता है। 'जिन' पद और 'निज' पद में केवल व्यंजनों का ही परिवर्तन है, स्वर वे ही हैं। इसी प्रकार जो आत्मा निज है, वही जिन है। केवल कर्म - पर्याय को बदल कर शुद्ध पर्याय में आना आवश्यक है।

आचार्यश्री कहते हैं—जो साधक अपने आपको आप से अभिन्न अनुभव करता है—अपने आपको परमात्मस्वरूप समझता है, वह आपके समान ही शुद्ध हो जाता है, परम पवित्र परमात्मा बन जाता है। अतएव साधक को निरन्तर चिन्तन करना चाहिए कि—'भगवन्! जैसी परम पवित्र सर्वथा शुद्ध आत्मा आपकी है, ठीक वैसी ही मेरी आत्मा भी विशुद्ध है। निश्चयनय के विचार से आपमें और मुझमें अणुमात्र भी अन्तर नहीं है। यह जो कुछ भी वर्तमान में अन्तर दिखाई देता है,

यह सब कर्मोदय की अशुध्दता के कारण से है। आप स्वभाव परिणति में हैं, अतः शुध्द हैं। और मैं विभाव-परिणति में हूं, अतः अशुध्द हूं। परन्तु यदि मैं आपके मार्ग पर चलने का प्रयत्न करूँ और विभाव-परिणति का परित्याग कर स्वभाव-परिणति को स्वीकार करूँ, तो यह मेरी आज की अशुद्ध आत्मा भी शुध्द हो जाए, जिन बन जाए।'

आचार्यश्री ने पानी को अमृत बनाने का उदाहरण बहुत ही मौलिक दिया है। जब कोई मंत्रवादी साधारण जल को भी मंत्र से अभिमंत्रित करके किसी विष-ग्रस्त रोगी को प्रदान करता है, तो वह अमृत ही बन जाता है, विष-विकार को दूर कर देता है। मंत्र की बात को भी दूर रखिए, यदि साधारण जल को भी अमृत-बुद्धि से उपयोग में लाया जाए, तो वह भी विष - विकार को दूर कर देता है। भावना का आत्मा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

[१८]

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो,
नो गृह्यते विविध-वर्ण-विपर्ययेण ॥

हे प्रभो! दूसरे मतों के मानने वाले लोगों ने भी आप वीतराग देव को ही अपने हरि-हर आदि देवताओं के रूप में स्वीकार कर रखा है।

जिस मनुष्य को पीलिया-रोग हो जाता है, क्या वह बिल्कुल स्वच्छ श्वेतवर्ण के शंख को भी वर्ण-विपर्यय के द्वारा नीला, पीला आदि नहीं देखने लगता है? अवश्य देखने लगता है। **टिप्पणी**

आचार्यश्री कहते हैं कि—हे भगवान्! अखिल संसार में एकमात्र देव आप ही हैं, और कोई देव है ही नहीं! दूसरे मतावलम्बी जो हरि - हर आदि देवताओं को मानते हैं, वे भी भ्रान्ति में हैं। आप ही को हरि - हर आदि की बुद्धि से पूजते हैं। आप ही कों यह हरि - विष्णु हैं, यह हर - महादेव हैं, इत्यादि रूप से मानते हैं।

प्रश्न होता है कि कहाँ वीतराग देव आप और कहाँ रागी-द्वेषी हरि - हर आदि देव! भला वीतराग को रागी-द्वेषी-रूप में कैसे जानने लगे? इतनी बड़ी भ्रान्ति कैसे हो गई?

आचार्यश्री उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार किसी मनुष्य को पीलिया रोग हो जाता है, तो वह सफेद शंख को भी पीला ही समझता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से अन्य मतावलम्बी भी आपको हरि-हर आदि रागी-द्वेषी देवता के रूप में पूजते हैं। मिथ्यात्व का विकार बड़ा उग्र एवं भीषण होता है।

[१९]

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिन - पतौ समहीरुहोऽपि,
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः॥

हे प्रभो ! जिस समय आप धर्मोपदेश करते हैं, उस समय आपके सत्संग के प्रभाव से वृक्ष भी अशोक हो जाता है, तब फिर मानव - समाज के अशोक— शोक-रहित होने में तो आश्चर्य ही किस बात का ?

जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है, तब केवल मानव-समाज ही निद्रा-त्याग कर प्रबुद्ध होता है— यह बात नहीं, अपितु कमल आदि समस्त जीव - लोक ही प्रबुद्ध हो जाता है, विकस्वर हो जाता है ?

टिप्पणी

तीर्थंकर भगवान् जब धर्मोपदेश करते हैं, तब देवता अशोक वृक्ष की रचना करते हैं और वे उसके नीचे बैठते हैं। आचार्यश्री ने उसी भाव को कितने सुन्दर ढंग से वर्णित किया है।

प्रस्तुत श्लोक में आए हुए 'अशोक' शब्द के दो अर्थ हैं— एक अशोक नामक वृक्ष और दूसरा शोक से रहित। इसी प्रकार 'विबोध' शब्द के भी दो अर्थ हैं—एक जागना और दूसरा विकसित-प्रफुल्लित हो जाना। 'अशोक' और 'विबोध' शब्द से संबंधित श्लेष अलंकार के द्वारा आचार्य ने अपनी काव्य - प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। आचार्यश्री कहते हैं कि हे भगवन् ! जब आपके पास रहनेवाला वृक्ष भी अशोक होता है, तब आपके श्रीचरणों का सेवक मनुष्य अशोक—शोक रहित हो जाए, सांसारिक प्रपञ्चों से मुक्त हो जाए, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? मनुष्य तो विशेष जागृत प्राणी

है, उस पर तो आपका प्रभाव स्पष्टतः पड़ना ही चाहिए। परन्तु, आश्चर्य है कि वृक्ष भी अशोक हो जाता है। आपकी महिमा तो सूर्य के समान है। प्रातःकाल सूर्य उदय होता है, तब केवल मनुष्य ही विबोध—जागरण नहीं पाते हैं, अपितु कमल आदि स्थावर जीव भी विबोध—विकास को प्राप्त हो जाते हैं। महापुरुषों का प्रभाव वस्तुत अलौकिक होता है।

यह 'अशोक वृक्ष' नामक प्रथम प्रातिहार्य का वर्णन है।

[२०]

चित्रं विभो ! कथमवाङ् मुखवृन्तमेव,
विष्वक् पतत्यविरला सुर-पुष्प-वृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश !
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥

हे भगवन् ! महान् आश्चर्य है कि आपके समवसरण में देवताओं द्वारा सब ओर की जानेवाली अविरल पुष्प-वर्षा के पुष्प सबके सब अपने डंठल नीचे की ओर किए हुए ऊर्ध्वमुख हो पड़ते हैं। एक भी ऐसा पुष्प नहीं, जो ऊपर की ओर डंठल किए अधोमुख पड़ता हो।

हाँ, ठीक है। मैं समझ गया। हे मुनीश ! जब भी कोई सु-मन आपके पास आता है, तो उसके बंधन सदा नीचे की ओर ही खिसकते हैं, कभी भी ऊपर की ओर उभर नहीं सकते।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में आये 'सुमन' शब्द के दो अर्थ हैं—एक फूल और दूसरा सु+मन—अच्छे मन वाला ज्ञानी भक्त। इस प्रकार 'बन्धन' शब्द के भी दो अर्थ हैं—एक फूलों का बन्धन वृन्त—डंठल और दूसरा ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्धन तथा विषय-कषाय आदि का बन्धन।

आचार्यश्री ने उपर्युक्त 'सुमन' और 'बन्धन' शब्द के दो अर्थों को लेकर बहुत ही सुन्दर पध्दति से श्लेष अलंकार का चमत्कार बताया है। आचार्य कहते हैं, आपके समवसरण में—धर्म-देशना करने के मण्डप में, जब देवता पुष्पों की वर्षा करते हैं, तब सब-के-सब फूलों के डठल अधोमुख—नीचे की ओर भूमि पर होते हैं, और पंखुरियाँ ऊपर आकाश की ओर ऊर्ध्वमुख। सब लोग आश्चर्य करते हैं कि यह सब चमत्कार है? परन्तु इसमें आश्चर्य की क्या बात है? जो सुमन, अर्थात् श्रध्दा-भक्ति से परिपूर्ण अच्छे मनवाला भक्त आपके पास आता है, उसके बन्धन नीचे चले जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। प्रभु का भक्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के बधन में कैसे बँधा रह सकता है? लोग प्रश्न कर सकते हैं कि—इस बात का फूलों से क्या सम्बन्ध? जी हाँ, सम्बन्ध यह है कि फूल 'सुमन' कहलाता है और उसके डठल 'बन्धन'। बन्धन का अर्थ है—बाँधने का साधन। फूल डंठल के द्वारा ही तो शाखा से बंधे रहते हैं। अत. डंठल भी बन्धन पद-वाच्य है। अब आप समझ लीजिए। भगवान् के पास आकर सु-मनों के बन्धन नीचे

हो जाते हैं, तो फूल भी सुमन है। अतः उनके बन्धन—डंठल भी नीचे हो जाएँ, इसमें क्या आश्चर्य है ?

यह 'सुर-पुष्प-वृष्टि' नामक दूसरे प्रातिहार्य का वर्णन है।

[२१]

स्थाने गंभीर - हृदयोदधि - सम्भवायाः,
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परम - सम्मद - संगभाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥

हे जिनेन्द्र ! आपके गम्भीर हृदयरूपी समुद्र से उत्पन्न होनेवाली आपकी मधुर - वाणी को ज्ञानी-पुरुष जो अमृत की उपमा देते हैं, वह उचित ही है।

क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य अमृत का पान कर अजर-अमर हो जाते हैं, उसी प्रकार भव्य - प्राणी भी आपके वचनामृत का पान कर शीघ्र ही परमानन्द से युक्त होकर अजर-अमर हो जाते हैं। जन्म-जरा-मरण के दुःखों से छूट कर सदा के लिए सच्चिदानन्द सिद्ध हो जाते हैं।

टिप्पणी

भगवान् की वाणी को भक्त - जनता सदा से अमृत की उपमा देती आई है। आचार्यश्री ने वही उपमा प्रस्तुत श्लोक में बहुत सुन्दर ढंग से घटाई है।

पौराणिक अनुश्रुति है कि अमृत बहुत गहरे सागर से निकाला गया था। उसके लिए समुद्र-मन्थन का आख्यान पढ़ना चाहिए। हाँ, तो भगवान् की वाणी किस समुद्र से उत्पन्न हुई? यह वाणी जिन भगवान् के हृदयरूपी गम्भीर समुद्र से उत्पन्न हुई है। भगवान् का हृदय साधारण जन-सा छिछला हृदय नहीं है, वह अनन्त गम्भीर समुद्र है। भगवान् पर कमठ आदि दैत्यों के अनेकानेका भयंकर उपसर्ग आए, परन्तु भगवान् का हृदय जरा भी क्षुब्ध नहीं हुआ, यही गम्भीरता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

किवदन्ती है कि अमृत को पीनेवाला प्राणी अमर हो जाता है, न उसे कभी बुढ़ापा आता है और न वह कभी मरता ही है। अमृत के लिए तो यह केवल कल्पना ही है। परन्तु, भगवान् की वाणी का पान करनेवाला भक्त, तो वास्तव में अजर-अमर हो जाता है, मुक्त हो जाता है। मोक्ष पाने के बाद न जरा है, न मरण। मुक्त आत्मा सदा एक-रस रहती है। संस्कृत-साहित्य में श्रवण के अर्थ में भी पान शब्द का प्रयोग होता है। अतः वाणी का सुनना भी पीना है।

यह 'दिव्य-ध्वनि' नामक तीसरे प्रातिहार्य का वर्णन है।

[१२]

स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुर-चामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि - पुंगवाय,
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्ध - भावाः॥

हे भगवन् ! देवताओं द्वारा डुलाए जाने वाले पवित्र श्वेत चँवर, आपके चरणों की ओर काफी नीचे झुक कर, रहस्यपूर्ण ढंग से जनता को मौन सूचना देते हुए, पुनः ऊपर की ओर उठते हैं।

मौन सूचना क्या देते हैं ? यह सूचना देते हैं कि जो भी व्यक्ति इस संसार के सर्वश्रेष्ठ महामुनि को भक्ति-पूर्वक नम्र होकर नमस्कार करते हैं, वे निश्चय ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर ऊर्ध्व-गति—मोक्ष में, जाते हैं।

टिप्पणी

भगवान् के दोनों ओर देवता पवित्र श्वेत चँवर डुलाते हैं। डुलाते समय चँवर पहले नीचे की ओर झुकते हैं और बाद में ऊपर की ओर जाते हैं। आचार्यश्री ने इसी साधारण-सी बात पर उत्प्रेक्षा-अलंकार के द्वारा अतीव अनूठे भावों की अवतारणा की है। आचार्य कहते हैं—श्वेत चँवर नीचे झुककर, पुनः प्रभु के दिव्य शरीर से निकलनेवाली उज्ज्वल किरणों से चमकते हुए ऊपर उठते हैं, तो दर्शक जनता को मौन संकेत करते हैं कि भगवान् को झुक कर नमस्कार करनेवाले भक्त हमारे समान ही श्वेत-निर्मल होकर ऊपर मोक्ष में जाते हैं।

यह 'चामर' नामक चतुर्थ प्रातिहार्य का वर्णन है।

[२३]

श्यामं गंभीर - गिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्य-शिखण्डिनस्त्वाम् ।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चैश्-
चामीकराद्रि-शिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥

हे प्रभो ! जब आप रत्नों से जड़े हुए उज्ज्वल स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान होते हैं और गम्भीर वाणी के द्वारा धर्म-देशना करते हैं, तब भव्य प्राणी - रूप मयूर, श्याम वर्ण वाले आपको बहुत ही उत्सुक होकर इस प्रकार देखते हैं, मानो सुवर्णमय सुमेरुपर्वत के शिखर पर वर्षा-कालीन श्याम मेघ उमड़-घुमड़ रहा हो, जोर-जोर से गरज रहा हो !

टिप्पणी

काले मेघों को घुमड़ते देखकर मोर बड़े ही आनन्दित होते हैं, इस साधारण लोक - घटना पर उपमा अलंकार का कितना सुन्दर चित्रण किया गया है ।

भगवान् पार्श्वनाथ का वर्ण श्याम था । अतः जब वे स्वर्ण-सिंहासन पर बैठकर अतीव गम्भीर वाणी में धर्मोपदेश करते थे, तब प्रभु के दर्शन पाकर भव्य - जीवों को अत्यन्त आनन्द होता था, उनका मन मयूर की तरह हर्षोन्मत्त होकर नाचने लगता था ।

स्वर्ण सिंहासन को स्वर्णमय मेरुपर्वत की, भगवान् को

श्याम मेघ की, दिव्य-ध्वनि को गर्जना की और भव्य-प्राणियों को म्यूर की उपमा देकर पूर्णोपमा का चित्र खींचा गया है।

यह 'सिंहासन' नामक पंचम प्रातिहार्य का वर्णन है।

[२४]

उद्गच्छता तव शिति-द्युति-मण्डलेन,
लुप्तच्छदच्छविरशोक - तरुर् बभूव।
सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥

हे नाथ ! आपके दिव्य-शरीर से ऊपर की ओर निकलने वाली किरणों के नील प्रभा मण्डल से अशोक वृक्ष के लाल पत्ते भी अपने राग-रक्त छवि से रहित हो जाते हैं।

हे वीतराग ! आपकी वाणी सुनना और आपका ध्यान करना तो महत्त्व की चीज है ही, परन्तु यहाँ तो आपके पास रहने मात्र से कौन ऐसा सचेतन प्राणी है, जो वीतराग—राग से रहित नहीं हो जाता ? अवश्य ही हो जाता है।

टिप्पणी

जो जिसके पास रहता है, वह वैसा ही बन जाता है। रागी का सेवक रागी होता है और वीतराग का सेवक वीतराग। भगवान् की उपासना करनेवाला भी वीतराग बन जाता है।

इस बात को लेकर आचार्यश्री ने अपने कवित्व का बड़ा ही भावपूर्ण चित्र उपस्थित किया है।

'राग' शब्द के दो अर्थ हैं— एक लाल रंग और दूसरा मोह। 'राग' शब्द से विरोधी सम्बन्ध रखनेवाले 'वीतराग' शब्द के भी दो अर्थ हैं— एक लाल रंग से रहित और दूसरा मोह से रहित। इन्हीं दो अर्थों पर श्लोक का बहुत सुन्दर भवन खड़ा किया गया है।

आचार्यश्री अशोक वृक्ष पर वीतरागत्व घटित करते हुए कहते हैं कि— भगवान् के सत्संग के प्रभाव से अशोकवृक्ष भी वीतराग बन जाता था। किस प्रकार बन जाता था? भगवान् का शरीर नील, अर्थात् श्याम वर्ण का था। अतः उनके दिव्य शरीर से निकलनेवाला प्रभा-मण्डल भी नीला ही होता था। उधर अशोकवृक्ष के पत्ते लालिमा लिये हुए होते थे। परन्तु ज्यों ही भगवान् के दिव्य-शरीर से निकलनेवाला किरणों का नील-प्रभा-मण्डल उपर अशोकवृक्ष के पत्तों पर आलोकित होता था, त्यों ही उनके लाल रंग को अभिभूत कर लेता था, दबा लेता था, अत वे वीतराग—लाल रंग से रहित हो जाते थे। भाव यह है कि भगवान् जब अशोकवृक्ष के नीचे बैठते थे, तो वह प्रभा-मण्डल के कारण लाल नहीं रहता था, नीला हो जाता था।

भगवान् का सत्संग बड़ा अलौकिक चमत्कार रखता है। भगवान् के वचनामृत श्रवण करना और वार्तालाप आदि करना तो दूर की बात है, उनके चमत्कार का तो कहना ही क्या?

प्रभु के तो सान्निध्य-मात्र से ही राग - भाव दूर हो जाता है। जो भी साधक प्रभु के चरणों में आया, संसार का राग - भाव त्याग कर वीतराग बन गया। वीतराग के पास आकर भला कौन वीतराग नहीं हो जाता ?

आचार्यश्री का गम्भीर अभिप्राय यह है कि भगवान् के पास रहकर अशोकवृक्ष वीतराग कैसे हो गया ? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है? वह अशोकवृक्ष तो अचेतन था, यदि वह राग छोड़कर वीतराग बन गया तो क्या हुआ, भगवान् के पास आ कर तो बड़े-बड़े सचेतन तार्किक भी अपना मत-पन्थ आदि का एवं सांसारिक वासनाओं का राग त्यागकर,वीतराग-भाव की उपासना करने लगते हैं, वैराग्य-भाव धारण कर लेते हैं। सचेतन को समझाना कठिन है। अचेतन को तो हर कोई बदल सकता है। सचेतन को केवलज्ञानी ही बदल सकते हैं।

यह 'भा-मण्डल' नामक छठे प्रातिहार्य का वर्णन है।

[२५]

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन--
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव ! जगत्त्रयाय,
मन्ये नदन्नभिनभः सुर - दुन्दुभिते ॥

हे देव ! आकाश में सब ओर गर्जन करती हुई देव-दुन्दुभि तीन जगत् को इस प्रकार सूचना देती है—

'ये भगवान् पार्श्वनाथ मोक्षपुरी को जानेवाले

सार्थवाह हैं, नेता हैं। अतएव हे मोक्षपुरी की यात्रा करने वाले मुमुक्षु यात्रियो ! आलस्य त्याग कर शीघ्र ही इनकी सेवा में आ कर उपस्थित हो जाओ !'

टिप्पणी

'दुन्दुभि' का शब्द ध्वनि-मात्र है, भाषा नहीं है। अतएव वह केवल बजती है, बोलती नहीं है। परन्तु, आचार्यश्री की विलक्षण प्रतिभा ने बजने में बोलने की उत्प्रेक्षा की है ? यह मूल श्लोक में कहा जा चुका है।

यह 'दुन्दुभि' नामक सातवें प्रातिहार्य का वर्णन है।

[२६]

उद्द्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ !
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ताकलाप - कलितोल्लसितातपत्र—
व्याजात् त्रिधा धृततनुर् ध्रुवमभ्युपेतः॥

हे नाथ ! जब आपने अपने दिव्य-ज्ञान के प्रकाश से तीनजगत् को उद्द्योतित—प्रकाशित कर दिया, तब बेचारे चन्द्रमा का अपना प्रकाश– कर्तृत्वरूप अधिकार छिन गया।

अब चन्द्रमा क्या करता ? वह तारा-मण्डल को साथ ले कर मोतियों के समूह से युक्त एवं सुशोभित तीन श्वेत छत्रों के रूप में तीन शरीर बनाकर आपकी सेवा में ही उपस्थित हो गया।

टिप्पणी

तीर्थङ्कर भगवान् के मस्तक पर देवताओं द्वारा तीन छत्र लगाए जाते हैं। ये छत्र श्वेतवर्ण के तथा चारों ओर मोतियों की झालर से युक्त होते हैं। यह भगवान् का 'छत्र-त्रय' प्रातिहार्य माना जाता है।

आचार्यश्री का भक्तिरस से परिपूर्ण हृदय उक्त तीन छत्रों के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर कल्पना करता है, यह आप मूल श्लोक में देख चुके हैं। फिर भी विशेष स्पष्टीकरण के रूप में कुछ थोड़ा और लिख देना अप्रासंगिक न होगा।

आचार्यश्री के कथन का यह भाव है कि भगवान् के मस्तक पर जो तीन छत्र दिखाई देते हैं, वस्तुतः ये छत्र नहीं हैं। यह तो चन्द्रमा है, जो तीन रूप बनाकर भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ।

चन्द्रमा क्यों और किसलिए उपस्थित हुआ है? इसके उत्तर में आचार्यश्री का कहना है कि चन्द्रमा का अपना अधिकार प्रकाश करने का है। वह सदा से आकाश में उदित होकर संसार को प्रकाशित करता आया है। परन्तु, भगवान् ने जब अपने केवलज्ञान के प्रकाश से सम्पूर्ण त्रिभुवन को प्रकाशित कर दिया, तब चन्द्रमा का क्या अधिकार रहा? वह बेचारा अपने परंपरागत अधिकार से भ्रष्ट कर दिया गया। अतएव वह अपना अधिकार माँगने प्रभु की सेवा में तीन छत्रों का रूप बना कर आया है। छत्रों के चारों ओर झालर के रूप में जो

मोती दिखाई देते हैं, वे मोती नहीं हैं, प्रत्युत चन्द्रमा के परिवार-स्वरूप तारागण हैं। वे भी चन्द्रमा के साथ प्रार्थना करने आए हैं। चन्द्रमा के तीन रूप मन, वचन और शरीर की त्रिधा भक्ति के सूचक हैं।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में जो 'कलितोल्लसितातपत्र' हैं, उसके स्थान में 'कलितोल्ल्वसितातपत्र' पाठान्तर भी बोला जाता है।

यह 'छत्र-त्रय' नामक अष्टम प्रातिहार्य का वर्णन है।

[२७]

स्वेन प्रपूरित - जगत्त्रय - पिण्डितेन,
कान्ति–प्रताप – यशसामिव संचयेन।
माणिक्य–हेम – रजत - प्रविनिर्मितेन,
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि॥

हे भगवन्! आप अपने चारों ओर के माणिक्य, सुवर्ण और रजत से बने हुए तीनों कोटों से बहुत ही भव्य मालूम होते हैं।

ये तीन कोट क्या हैं? मानों आपके शरीर की कान्ति, आपका प्रताप और आपका यश ही तीनों जगत् में सर्वत्र फैलने के बाद आगे स्थान न मिलने के कारण आपके चारों ओर तीन कोट के रूप में पिण्डीभूत हो गया है, एकत्रित हो गया।

टिप्पणी

तीर्थंकर भगवान् का जहाँ विराजना होता है, वहाँ भगवान् के चारों ओर देवता एक के बाद एक, तीन कोट का निर्माण करते हैं। तीन कोटों में से पहला कोट नीलमणि—नीलम का, दूसरा सुवर्ण—सोने का और तीसरा रजत—चाँदी का होता है।

आचार्यश्री उपर्युक्त तीन कोटों के सम्बन्ध में कविता की उडान भरते हैं कि ये तीन कोट वस्तुतः नीलमणि, सुवर्ण आदि के नहीं हैं, अपितु भगवान् के दिव्य-शरीर की कांति, भगवान् का प्रताप और यश ही समूहरूप में एकत्र हो गया है। क्यों एकत्र हो गया है ? इसका उत्तर यह है—भगवान् की कांति, प्रताप और यश—तीन लोक में सर्वत्र फैल गए हैं। कहीं भी ऐसा स्थान नहीं रहा, जहाँ भगवान् की कांति, प्रताप आदि न पहुंचे हों। तीनों लोकों से बाहर फैलने के लिए स्थान ही नहीं है, क्योंकि आगे अलोक है। अतः कांति, प्रताप और यश स्थानाभाव के कारण भगवान् के चारों ओर पिण्ड के रूप में एकत्र हो गए हैं। जिस पदार्थ को और अधिक फैलने के लिए स्थन नहीं मिलेगा, वह अवश्य ही इकट्ठा हो जायगा।

भगवान् के शरीर की कांति नील-वर्ण की है, अतः वह नीलमणि का, प्रताप का वर्ण अग्नि के समान दीप्त है, अतः यह सुवर्ण का और यश का वर्ण श्वेत माना जाता है, अतः वह रजत का, दुर्ग प्रतिभासित होता है।

प्रस्तुत कल्पना के द्वारा आचार्यश्री भगवान् की कांति आदि

को अनन्त बताना चाहते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि भगवान् की कांति, प्रताप और यश इतना महान् है, जो सम्पूर्ण तीनों लोकों में भर जाने के बाद भी समाप्त न हो सका, फलत. पिण्डीभूत हो गया।

[२८]

दिव्य-स्रजो जिन ! नमत्-त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र,
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव ॥

हे नाथ ! जब स्वर्ग के इन्द्र आपको नमस्कार करते हैं, तो उनकी दिव्य पुष्प-मालाएँ रत्न-जटित मुकुटों का परित्याग कर सुमन भी झटपट आपके श्रीचरणों का आश्रय ले लेते हैं।

पुष्प-मालाओं का यह कार्य बिल्कुल उचित ही है, क्योंकि आप के श्रीचरणों का आश्रय मिल जाने के बाद (अच्छे मनवाले ज्ञानी पुरुषों) को अन्यत्र कहीं पर भी सन्तोष ही नहीं मिलता।

टिप्पणी

भगवान् को नमस्कार करते समय देवेन्द्रों के मुकुट में लगी हुई फूलमालाएँ प्रभु के चरणों में आ गिरती हैं, यह कोई असाधारण बात नहीं है। जब भी कोई नमस्कार करने के

लिए मस्तक झुकाता है, तो फूल - मालाएँ नीचे गिर ही जाती हैं। परन्तु आचार्यश्री इस साधारण - सी घटना को भी असाधारण शब्दचित्र में उतार रहे हैं। प्रश्न है कि फूल-मालाएँ रत्नों से जड़े हुए सुन्दर स्वर्ण - मुकुटों को छोड़ कर प्रभु के चरणों में क्यों आ गिरती हैं ? उन्हें मुकुट जैसे सुन्दर स्थान पर रहना क्यों नहीं पसन्द आता ? उत्तर है कि वे सुमन हैं। और जो सुमन होते हैं, उनका प्रभु के चरणों में अगाध प्रेम होता ही है। अतः ये अन्यत्र सन्तुष्ट ही नहीं रह सकते।

श्लोक में आए हुए 'सुमस' शब्द के दो अर्थ हैं—एक पुष्प और दूसरा अच्छे मनवाले सज्जन पुरुष। सज्जन व्यक्ति प्रभु के चरणों से प्रेम करते ही हैं। अतः नाम - साम्य के कारण सुमन—फूल भी प्रभु के चरणों से प्रेम करते हैं।

कल्पना की इतनी लम्बी उडान का गूढ़ भाव यह है कि प्रभु के चरणों में साधारण जनता तो क्या, बड़े-बड़े इन्द्र आदि देव भी नमस्कार करते हैं। वह नमस्कार भी कुछ साधारण नहीं होता, प्रत्युत श्रद्धा - भक्ति के साथ इतना झुक कर होता है कि मुकुटों पर शोभा के लिए डाली हुई फूल - मालाएँ भी प्रभु के चरणों में आ पड़ती हैं।

[२९]

त्वं नाथ ! जन्मजलधेर् विपराङ्-मुखोऽपि,
यत् तारयस्यसुमतो निज-पृष्ठलग्नान्।
युक्तं हि पार्थिव - निपस्य सतस्तवैव,
चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाक-शून्यः ॥

हे नाथ ! संसार-समुद्र से सर्वथा पराङ्मुख—प्रतिकूल होते हुए भी आप अपने पृष्ठाश्रित-अनुयायी भक्तों को पार उतार देते हैं, यह युक्त ही है, क्योंकि आप पार्थिवनिप—विश्व के ज्ञानी हैं। अस्तु, पार्थिवनिप (मिट्टी के घड़े) का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जल की ओर अधोमुख रहकर भी अपनी पीठ पर रहे हुए व्यक्तियों को पार उतार देता है।

परन्तु, इसमें एक महान् आश्चर्य है। वह यह कि पार्थिवनिप (घड़ा) तो विपाक-सहित होता है और आप कर्म - विपाक से रहित हैं।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक का भाव अतीव गम्भीर है। पार्थिवनिप और कर्म - विपाक का श्लेष जब तक अच्छी तरह समझ में न आए, तब तक किसी भी प्रकार श्लोक का भाव हृदयङ्गम नहीं हो सकता।

'पार्थिवनिप' शब्द के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है—पार्थिव-मिट्टी का और निप—घड़ा। दूसरा अर्थ है—पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, पार्थिव—पृथ्वी का और निप—ज्ञानी। भगतत्पक्ष में पार्थिवनिप का अर्थ विश्व के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी लिया जाता है, और उधर मिट्टी का घड़ा।

'कर्म-विपाक' शब्द के भी दो अर्थ हैं। एक अर्थ है—

कुम्हार के अपने कर्म (क्रिया) का विपाक, अर्थात् घड़े को आग में पकाना, और दूसरा अर्थ है—कर्मों का फल, अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों का उदय। पहला अर्थ घड़े में घटित होता है और दूसरा भगवान् में।

अब जरा भावार्थ पर विचार कीजिए। भगवान् सांसारिक मोहमाया के न होने से वीतराग हैं। अतः संसार से पराङ्मुख हैं—मुख मोड़े हुए हैं। परन्तु जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा अपनी पीठ पर स्थित तैरने वाले लोगों की ओर पराङ्मुख होते हुए भी उनको नदी आदि से पार उतार देता है, उसी प्रकार भगवान् भी स्वयं मोक्षाभिमुख होने से संसारस्थ प्राणियों की ओर से पराङ्मुख होते हुए भी अपने पृष्ठस्थित भक्तों को संसार-सागर से पार उतार देते हैं। अर्थात् जिस ज्ञान, दर्शन, चारित्र के पथ पर चल कर भगवान् मोक्ष में गए हैं, उसी मर्ग के अनुसरण करनेवाले अपने भक्त अनुयायियों को संसार से पार उतार देते हैं, मोक्ष पहुंचा देते हैं। पराङ्मुख रह कर कैसे पहुंचा देते हैं ? इसका उत्तर यह है कि—भगवान् पार्थिवनिप हैं। अतः पार्थिवनिप का कार्य कर देते हैं। पार्थिवनिप का अर्थ—मिट्टी का घड़ा है, परन्तु भगवान् तो पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी होने के नाते पार्थिवनिप हैं। किसी भी तरह हो, नाम-साम्य है। अतः नाम के अनुसार कार्य करना ही होता है। ज्ञानी पुरुष संसार के प्रतिकूल रह कर ही अपने पथानुगामियों को पार उतारते हैं, इसी प्रकार घड़ा भी।

यह सब तो ठीक हो गया। परन्तु, एक अन्तर है। वह

यह कि मिट्टी का घड़ा तो अग्नि में पका हुआ होने पर ही पानी में तैर कर दूसरों को पार उतारता है, कच्चा घड़ा तो जल का स्पर्श होते ही दूसरों को पार करना तो दूर रहा, खुद अपना अस्तित्व भी खो बैठता है, पानी में गलकर नष्ट हो जाता है। हाँ, तो आश्चर्य की बात है कि भगवान् पार्थिवनिप का कार्य तो करते हैं, परन्तु घड़े के समान कर्म-विपाक से युक्त नहीं, प्रत्युत रहित हैं। विपाक से रहित हो कर पार्थिवनिप भगवान् कैसे दूसरों को पार उतारते हैं? यही तो आश्चर्य है! प्रभु तेरी लीला!

[३०]

विश्वेश्वरोऽपि जन-पालक! दुर्गतस्त्वं,
किं वाक्षर-प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश!
अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव,
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्व-विकास-हेतु॥

हे जन-प्रतिपालक! आप अखिल विश्व के ईश्वर होते हुए भी दुर्गत हैं—संसारी जीवों को प्राप्त होने में दुर्लभ हैं अथवा दुर्ज्ञेय हैं। हे नाथ! आप अक्षर-प्रकृति—नित्य स्वभाव से युक्त होते हुए भी अलिपि हैं, कर्मलेप से रहित हैं। हे प्रभो! आप अज्ञानवत्—अज्ञप्राणियों के संरक्षक हैं, तथापि आप में त्रिभुवन को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान सदा प्रकाशमान रहता है।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में विरोधाभास अलंकार है। विरोधाभास वह अलंकार होता है, जहाँ विरोध तो न हो, किन्तु आपाततः विरोध प्रतिभासित होता हो, अर्थात् शब्दों को सुनते समय तो विरोध मालूम होता हो, किन्तु अर्थ का विचार करने पर उसका परिहार हो जाता हो।

उपर्युक्त पद्य में तीन स्थान पर विरोधाभास है। प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि—'हे प्रभो ! आप विश्व के स्वामी हैं, तथापि दुर्गत हैं।' दुर्गत साधारणतः दरिद्र को कहते हैं। भला जो विश्व का स्वामी है, वह दरिद्र कैसे ? और जो दरिद्र हैं, वह विश्व का स्वामी कैसे ? परस्पर विरोध है। उक्त विरोध का परिहार दुर्गत का दुर्लभ अथवा दुर्ज्ञेय अर्थ करने से हो जाता है। भगवान् का स्वरूप संसार की वासनाओं में फँसे रहनेवाले जीवों को प्राप्त होना दुर्लभ है, अथवा संसारी जीव भगवान् के स्वरूप को कठिनता से जान पाते हैं। अतः भगवान् दुर्गत—दुर्ज्ञेय हैं।

दूसरी पंक्ति में कहा गया है—हे नाथ ! आप अक्षर-प्रकृति हैं, तथापि अलिपि हैं।' भला जो अक्षर की प्रकृति, अर्थात् स्वभाव रखता है, वह अलिपि कैसे रह सकता है ? जो क ख आदि अक्षरों जैसा है, वह लिपि में लिखा क्यों न जाएगा ? यह विरोध है।

उपर्युक्त विरोध का परिहार इस प्रकार है कि—भगवान्

इधर अक्षर, क्षर्थात् अविनाशी स्वभाव वाले हैं और उधर अलिपि अर्थात् कर्मलेप से रहित हैं, अथवा लिपि—शरीर से रहित हैं। मोक्ष में न शरीर रहता है और न कर्म का लेप ही। अब कुछ भी विरोध नहीं रहा।

तीसरी और चौथी पंक्ति में कहा गया है—'आप अज्ञानवत् (अज्ञानवान्) हैं, तथापि आप में विश्व-विकासी ज्ञान स्फुरित होता है।' भला जो अज्ञानवान् है, उसमें विश्व-विकासी ज्ञान कैसे स्फुरायमाण होगा? यह विरोध है। परिहार के लिए अज्ञानवत् का अर्थ बदलना होगा। अज्ञानवत् का दूसरा अर्थ है—अज्ञ प्राणियों की रक्षा करनेवाला। संस्कृत व्याकरण के अनुसार पदच्छेद कीजिए—'अज्ञान्+अवति'धातु का अर्थ—रक्षा करना है। 'अज्ञान्' द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है। 'अवति' सप्तमी विभक्ति का एक वचन है, जो श्लोक में त्वयि के साथ सम्बन्ध रखता है। जो अज्ञों का रक्षण करता है, वह अवश्य ही विश्व-विकासक ज्ञानी होगा। अब क्या विरोध रहा?

[३१]

प्राग्भार-संभृत-नभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायाऽपि तैस्तव न नाथ! हता हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा॥

हे नाथ! दुष्ट कमठ ने क्रुद्ध होकर आप पर पहले बड़ी भीषण धूल की वर्षा की थी, ऐसी वर्षा कि

जिसके समूह से समग्र आकाश भर गया था। परन्तु उससे आपका कुछ भी न बिगड़ा। और तो क्या, आपकी छाया भी मलिन न हुई। प्रत्युत उस धूल से वह हताश दुरात्मा स्वयं ही ग्रस्त हो गया, कर्म-रज से मलिन हो गया।

टिप्पणी

भगवान् पार्श्वनाथ जब राजकुमार थे, तब उन्होंने कमठ तापस को अहिंसा-धर्म का उपदेश दिया था और नाग-सर्प को जलने से बचाया था। बाद में कमठ देव बन गया और पार्श्वनाथजी दीक्षा ले कर मुनि बन गए। कमठ-दैत्य ने क्रुद्ध होकर तब भगवान् पर भयंकर उपसर्ग किया। प्रस्तुत श्लोक में इसी घटना का चित्रण किया गया है।

आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् पर कमठ ने धूल की वर्षा की, इससे तो वह स्वयं ही कर्मों की धूल से मलिन हुआ, भगवान् तो अध्यात्म-भाव में लीन रहने के कारण निर्मल ही रहे। संसार में देखा जाता है कि जो सूर्य पर धूल फेंकता है, उससे सूर्य की कान्ति तो जरा भी मलिन नहीं होती, प्रत्युत वह धूल वापस फेंकने वाले के मुख पर ही आ पड़ती है।

'रज' शब्द के दो अर्थ हैं—एक धूल और दूसरा कर्म। भगवान् पर धूल डाली, तो कमठ पर कर्म की धूल पड़ी।

[३२]

यद्गर्जदूर्जित - घनौघमदभ्र - भीमं,
भ्रश्यत्-तडिन्मुसल-मांसल-घोर-धारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर - वारि दध्रे,
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तर-वारि-कृत्यम् ॥

हे जिनेश्वर देव ! कमठ - दैत्य ने आप पर बड़ी भयंकर जल-वर्षा की, ऐसी वर्षा कि जिसमें बड़े - बड़े विशाल मेघ - समूह गर्जन कर रहे थे, बिजलियाँ गिर रही थीं, मूसल के समान मोटी-मोटी जलधाराएँ बरस रही थीं, जो अत्यन्त डरावनी मालूम होती थीं और जिनका अथाह जल तैरकर भी पार करना कठिन था ।

परन्तु, उस वर्षा से आपकी कुछ भी हानि न हुई, प्रत्युत वह उस कमठ के लिए ही दुष्ट तलवार का काम कर गई, उसे घायल कर गई ।

टिप्पणी

श्लोक में आए हुए 'दुस्तरवारि-कृत्यम्' शब्द का अर्थ है—दुष्ट तलवार का कार्य । जिस प्रकार खराब तलवार चलानेवाले को ही घायल कर देती है, दूसरे का कुछ बिगाड़ नहीं पाती है, उसी प्रकार कमठ की जल - वर्षा ने भी भगवान् का कुछ

भी नहीं बिगाड़ा, प्रत्युत उसको ही कर्मों की मार से घायल कर दिया, क्षत - विक्षत कर दिया।

श्लोक में 'दुस्तरवारि' शब्द दो बार आया है। पहले का अर्थ है—कठिनाई से तैरने योग्य जल, दुस्तर + वारि। दूसरे का अर्थ है—खराब तलवार, दुस् + तरवारि।

[३३]

ध्वस्तोर्ध्व - केश-विकृताकृति-मर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्-भयद-वक्त्र-विनिर्यदग्निः।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः,
सोऽस्याऽभवत्प्रतिभवं भव-दुःख हेतुः ॥

हे भगवन्! दुष्ट कमठासुर ने आपको पथ-भ्रष्ट करने के लिए अत्यन्त निर्दय पिशाचों के दल भी भेजे। कैसे थे वे पिशाच? जिनके गले में बिखरे केशों और भद्दी आकृति - वाले नर - मुण्डों की मालाएँ पड़ी हुई थीं और जो अपने भयानक मुख से निरन्तर आग उगल रहे थे।

परन्तु, हे प्रभो! वे भयंकर पिशाच आप पर कुछ भी प्रभाव न डाल सके, प्रत्युत वे उसी कमठ के लिए प्रत्येक भव में भयंकर दुःखों के कारण बने।

[३४]

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद् विधुतान्यकृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलक - पक्ष्मल - देह-देशाः,
पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः ॥

हे त्रिभुवन के स्वामी ! संसार के वे ही प्राणी धन्य हैं, जिनके शरीर का रोम - रोम आपकी भक्ति के कारण उल्लसित एवं पुलकित हो जाता है और जो दूसरे सब काम छोड़कर आपके चरण-कमलों की विधि-पूर्वक त्रिकाल उपासना करते हैं !

[३५]

अस्मिन्नपारभव – वारिनिधौ मुनीश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्र–पवित्र–मंत्रे,
किं वा विपद्-विष-धरी सविधं समेति ॥

हे मुनीन्द्र ! इस अपार संसार-सागर में परिभ्रमण करते हुए अनन्त-काल हो गया, परन्तु मालूम होता है कि आपका पवित्र नाम कभी भी मुझे श्रुतिगोचर नहीं हुआ अर्थात् मैंने कभी अपने कान से सुना नहीं ।

क्योंकि यदि कभी आपके नाम का पवित्र मंत्र सुनने में आया होता, तो फिर क्या यह विपत्तिरूपी काल नागिन मेरे पास आती ? कभी नहीं ।

टिप्पणी

कार्य से कारण का पता चलता है। जैसा कार्य होता है, उसी के अनुसार उसका कारण होता है। आचार्य कहते हैं कि—'हे भगवन् ! मैं दुःख की नागिन से डँसा जा रहा हूं। इससे पता चलता है कि मैंने कभी आपकी उपासना नहीं की, आपका पवित्र नाम नहीं सुना। यदि उपासना की होती, तो यह दुःख न भोगना पड़ता।' प्रभु को भुला देना ही दुःख का कारण है,और प्रभु को स्मृति में रखना ही सुख का आधार है।

[३६]

जन्मान्तरेऽपि तव पाद - युगं न देव !
मन्ये मया महितमीहितदान – दक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥

हे देव ! मैं निश्चित रूप से यह समझ गया हूं कि मैंने जन्म - जन्मान्तर में भी कभी अभीष्ट फल प्रदान करने में पूर्णतया समर्थ आपके चरण-कमलों की सम्यक् रूप से उपासना नहीं की।

हे मुनीश ! यही कारण है कि मैं इस जन्म में हृदय को दलन करनेवाले असह्य तिरस्कारों का केन्द्र बन गया हूँ। आपके चरणों का पुजारी तो कभी भी तिरस्कृत नहीं होता।

[३७]

नूनं न मोह - तिमिरावृत - लोचनेन,
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत्प्रबन्ध – गतयः कथमन्यथैते ॥

हे प्रभो ! मेरी आँखों पर मिथ्यात्व - मोह का गहरा अन्धेरा छाया रहा, फलतः मैंने पहले कभी एक वार भी आपके दर्शन नहीं किए ।

यदि कभी आपके दर्शन किए होते, तो अत्यन्त तीव्र गति से विस्तार पानेवाले ये मर्म-भेदी अनर्थ मुझे क्यों पीड़ित करते ? आपका भक्त और अनर्थ ? इनका परस्पर मेल ही नहीं बैठता ।

[३८]

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव ! दुःख-पात्रं,
यस्मात् क्रियाःप्रतिफलन्ति न भाव-शून्याः ॥

हे जनता के एकमात्र प्रियबन्धु भगवन् ! मैंने यथा-वसर आपका पवित्र नाम भी सुना, उपासना भी की और दर्शन भी किए—बाह्यदृष्टि से सब-कुछ किया, परन्तु भक्ति - भावपूर्वक कभी भी आपको अपने हृदय में धारण नहीं किया ।

यही कारण है कि आज मैं अनेकानेक भयंकर दुःखों का पात्र बन रहा हूँ। प्रभु के दर्शन होने के बाद भी दुःख क्यों ? इसलिए कि भावनारहित क्रियाएँ कभी भी सफल नहीं होतीं। **टिप्पणी**

प्रथम के तीन श्लोकों में बताया गया था कि—'प्रभु का नाम सुना, उपासना नहीं की और दर्शन भी नहीं किए, इसी कारण यह दुःख भोगना पड़ रहा है।' आचार्यश्री का यह कथन व्यवहार की भाषा में था। दर्शन - शास्त्र की भाषा में केवल दर्शन आदि का कोई मूल्य नहीं होता। दर्शन तो क्या, वर्षों तक भी यदि प्रभु-चरणों की उपासना होती रहे, तब भी कुछ परिणाम नहीं निकलता। कभी-कभी विपरीत परिणाम भी निकल पड़ते हैं। अतएव साधना का प्राण भावना है। जिस साधना और क्रिया के पीछे भावना है, भक्ति है, हृदय है, वही सफल होती है, अन्यथा नहीं। भावनाशून्य क्रिया मिथ्या आडम्बर का रूप पकड़ती है और उत्तरोत्तर दंभ और अहंकार का पोषण करने के कारण विपरीत परिणाम ही उत्पन्न करती है। इसी निश्चय-नय का दृष्टिकोण प्रस्तुत श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

[३९]

त्वं नाथ ! दुःखिजन-वत्सल ! हे शरण्य
कारुण्य - पुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य !
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय,
दुःखांकुरोद्दलन – तत्परतां विधेहि ।।

हे नाथ ! आप दुःखी जीवों के प्रति वत्सल हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं, करुणा के पवित्र धाम हैं, और जितेन्द्रिय पुरुषों में सर्व-श्रेष्ठ हैं।

हे महेश ! भक्ति-भाव के कारण विनम्र हुए मुझ सेवक पर अपनी दया-दृष्टि कीजिए और इस दुःख की जड़ को उखाड़ने में शीघ्र ही तत्परता दिखाइए।

[४०]

निःसंख्यसार - शरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादितरिपु - प्रथतावदातम्
त्वत्पाद - पंकजमपि प्रणिधान - वन्ध्यो,
वन्ध्योऽस्मि चेद् भुवन-पावन ! हा हतोऽस्मि ॥

हे भुवन-पावन ! आपके चरण-कमल अतुल बल के स्थान हैं, दुःखित-जनों की रक्षा करनेवाले हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं, और कर्म-शत्रुओं को नष्ट करने के कारण विश्व-विख्यात यश वाले हैं।

परन्तु, दुर्भाग्य है कि आपके इस प्रकार मङ्गलमय चरणों का अवलम्बन पा कर भी मैं ध्यान से शून्य रहा, अतएव अभागा फलहीन रहा। भगवन् ! खेद है कि मैं तो आपके चरण-कमलों को पा कर भी मारा गया !

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में आचार्यश्री ने अपनी कितनी अधिक मर्म वेदना प्रगट की है। आज के भक्ति - भावना से शून्य मात्र

क्रिया-काण्ड का ही मोह रखने वाले भक्तों को इससे कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

ससार में यदि कोई साधन के अभाव में दुःख पाता है, तो उसकी विवशता पर दया आ सकती है। परन्तु, जो साधन पा कर भी उसका उचित उपयोग न करने के कारण दुःख पाता है, तो वह अवश्य ही निन्दा का पात्र है। प्रभु के चरण-कमल विश्व का कल्याण करने वाले हैं, परन्तु दुःख है कि नादान साधक उनको पाकर भी सच्चे मन से ध्यान लगा कर उपासना नहीं कर पाता। अतएव नाना प्रकार के दुःख उठाता है। चिन्तामणि रत्न पा कर भी दरिद्रता? और वह भी अपनी भावना की दुर्बलता के कारण? यह नष्ट हो जाना नहीं, तो और क्या है?

कुछ प्रतियों में 'वन्ध्योऽस्मि' के स्थान पर 'वध्योऽस्मि' पाठान्तर भी मिलता है। वध्योऽस्मि का अर्थ है कि रागादि शत्रुओं के द्वारा मैं वध्य हो रहा हूं, मारा जा रहा हूं।

[४१]

देवेन्द्र-वन्द्य ! विदिताखिलवस्तु-सार !
संसार-तारक विभो भुवनाधिनाथ !
त्रायस्व देव करुणाह्रद ! मां पुनीहि,
सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बुराशेः ॥

हे प्रभो ! आप स्वर्गाधिपति इन्द्रों द्वारा वन्दनीय हैं, सब पदार्थों के रहस्य को जानने वाले हैं, संसार-सागर से पार उतारने वाले हैं, तीन लोक के नाथ हैं।

है करुणा के सरोवर देव ! भयंकर संकटों के सागर में डूबने से मेरी रक्षा कीजिए, मुझे पवित्र बनाइए।

हे नाथ ! मैं एक अतीव निम्न श्रेणी का भक्त हूँ, मेरी भक्ति ही क्या है ? फिर भी आपके चरण-कमलों की चिरकाल से संचित की हुई भक्ति का यदि कुछ भी फल हो, तो हे शरणागत-वत्सल ! जन्म-जन्मान्तर में आप ही मेरे स्वामी बनें। मुझे केवल आपकी शरण ही अपेक्षित है, और कुछ नहीं।

[४२]

यद्यस्ति नाथ ! भवदंघ्रिसरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्तत-संचितायाः।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥

टिप्पणी

स्तोत्र के उपसंहार में आचार्यश्री क्या प्रार्थना करते हैं, कुछ पढ़ा आपने ? न लोक-पूजा की अभिलाषा है, न स्वर्ग आदि की ही। आचार्यश्री भक्ति-रस में सने हुए शब्दों में कहते हैं कि हे भगवन् ! मैंने आपकी कुछ भी भक्ति नहीं की है। फिर भी थोड़ी-बहुत जो कुछ भी कर पाया हूं, उसका फल मैं यही चाहता हूं, कि—'तुम होहु भव-भव स्वामी मेरे, मैं सदा सेवक रहूँ !' जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक

यही परम्परा सदा बनी रहे। बस, यह ध्यान में रखना, मैं कभी भी आपकी भक्ति से वंचित न होने पाऊँ।

यह है विनम्रता, सरलता ! यह है निष्काम-भक्ति का उज्ज्वल चित्र ! यह है स्वार्पण की दिव्य-भावना !

[४३]

इत्थं समाहित-धियो विधिवज्जिनेन्द्र !
सान्द्रोल्लसत्पुलक-कुंचुकितांगभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मल-मुखाम्बुज-बद्धलक्ष्या,
ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः ॥

[४४]

जन - नयन - कुमुद - चन्द्र !
प्रभास्वराः स्वर्ण-सम्पदो भुक्त्वा!
ते विगलित - मल - निचया,
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥

—युग्मम्

हे जिनेन्द्र देव ! अटल श्रद्धा के द्वारा स्थिर बुद्धि वाले, प्रेमाधिक्य के कारण अतीव सघन-रूप से उल्लसित हुए रोमांचों से व्याप्त अंगवाले तथा निरन्तर आपके मुख-कमल की ओर अपलक लक्ष्य रखनेवाले, जो भव्य - प्राणी आपकी विधि - पूर्वक स्तुति करते हैं, आपका गुणानुवाद करते हैं—

हे भक्त - जनता के नेत्ररूपी कुमुदों को विकसित करने वाले विमल चन्द्र ! वे अत्यन्त रमणीय स्वर्ग-सम्पदाओं को भोग कर, अन्त में कर्म-मल से रहित हो जाते हैं, और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

टिप्पणी

लोग कहते हैं, भगवत्स्तुति से क्या होन-जाना है ? वर्षों के वर्ष गुजर जाते हैं, कुछ भी तो लाभ नहीं होता। परन्तु ! उन्हें समझना चाहिए कि भगवत्स्तुति के लिए भक्त को कैसा होना चाहिए ? योग्य अधिकारी के विना साधना कैसे सफल हो सकती है ? आचार्यश्री ने कल्याण-मन्दिर का उपसंहार करते हुए इसी वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला है। प्रथम श्लोक में भव्य के विशेषण जरा ध्यान से पढ़ने चाहिए। एक-एक विशेषण में भक्ति का क्षीरसागर लहरें ले रहा है, भगवत्प्रेम का नाद गूँज रहा है। भगवान् की स्तुति करनी हो, तो नीरस एवं शुष्क हृदय से न कीजिए। जब तक तन्मयता नहीं होती है, तब तक स्तुति करने का आनन्द नहीं प्राप्त होता। भगवच्चरणों में बुद्धि को स्थिर कीजिए, उसे इधर-उधर बिल्कुल मत भटकने दीजिए। और जब स्तुति करें, तो हृदय प्रेम से छलकता रहना चाहिए। अधिक क्या, शरीर का अंग - अंग भगवत्प्रेम से पुलकित एवं रोमाञ्चित हो जाना चाहिए। जब यह दशा होगी, तभी भगवत्स्तुति का आनन्द मिलेगा, आत्मा का कल्याण होगा।

कल्याण - मन्दिर स्तोत्र भाषा

दोहा

परम ज्योति परमात्मा, परम ज्ञान परवीन।
वन्दूँ परमानन्दमय, घट - घट अन्तर लीन॥

चौपाई १५ मात्रा

: १ :

निर्भय - करन परम परधान।
भव - समुद्र - जल तारन यान॥

शिव - मन्दिर अघ - हरन अनिन्द।
बन्दहुँ पास - चरन अरविन्द॥

: २ :

कमठ - मान - भंजन वर वीर।
गरिमा - सागर गुन - गम्भीर॥

सुरगुरु पार लहै नहिं जास।
मैं अजान जपूं जस तास॥

: ३ :

प्रभु स्वरूप अति अगम अथाह।
क्यों हम सेती होय निवाह॥

ज्यों दिन - अन्ध उलूको पोत।
कहि न सकै रवि - किरन - उदोत॥

: ४ :

मोह - हीन जाने मन माँहि।
तोहु न तुम गुण वरने जाहिं॥

प्रलय पयोधि करै जल बौन।
प्रगटहिं रतन गिने तिहिं कौन॥

: ५ :

तुम असंख्य निर्मल गुणखान।
मैं मति - हीन कहूँ निज बान॥

ज्यों बालक निज बाँह पसार।
सागर परिमित कहे विचार॥

: ६ :

जे जोगीन्द्र करहिं तप - खेद।
तऊ न जानहिं तुम गुन - भेद॥

भक्ति - भाव मुझ मन अभिलाख।
ज्यों पंछी बोले निज - भाख॥

: ७ :

तुम जस महिमा अगम अपार।
नाम एक त्रिभुवन - आधार॥
आवै पवन पदमसर होय।
ग्रीषम - तपन निवारै सोय॥

: ८ :

तुम आवत भविजन - घट माँहि।
कर्म - निबन्ध शिथिल ह्वै जाहिं॥
ज्यों चन्दन तरु बोलहिं मोर।
डरहिं भुजंग भगे चहुँ ओर॥

: ९ :

तुम निरखत जन दीन - दयाल।
संकट ते छूटैं तत्काल॥
ज्यों पशु घेरे लेहिं निशि चोर।
ते तज भागहिं देखत भोर॥

: १० :

तू भविजन - तारक किमि होहि।
ते चितधार तिरहि ले तोहि॥
यह ऐसे कर जान स्वभाव।
तिरहि मसक ज्यों गर्भितबाव॥

: ११ :

जिहँ सब देख किये वश वाम।
ते छिन में जीत्यो सो काम॥

ज्यों जल करे अगनि - कुल हान।
बड़वानल पीवे सो पान॥

: १२ :

तुम अनन्त गरवा गुण लिये।
क्योंकर भक्ति धरौं निज हिये॥

ह्वै लघु रूप तिरहिं संसार।
यह प्रभु महिमा अगम अपार॥

: १३ :

क्रोध निवार कियो मन शान्त।
कर्म - सुभट जीते किहिं भान्त॥

यह पटुतर देखहु संसार।
नील बिरछ ज्यों दहे तुसार॥

: १४ :

मुनिजन हिये कमल निज टोहि।
सिद्ध - रूप - सम ध्यावहिं तोहि॥

कमल करणिका बिन नहिं और।
कमल - बीज उपजन की ठौर॥

: १५ :

जब तुम ध्यान धरे मुनि कोय।
तब विदेह परमातम होय॥

जैसे धातु शिलातनु त्याग।
कनक - स्वरूप धवो जब आग॥

: १६ :

जाके मन तुम करहु निवास।
विनसी जाय क्यों विग्रह तास॥

ज्यों महन्त बिच आवे कोय।
विग्रह - मूल निवारै सोय॥

: १७ :

करहिं विबुध जे आतम - ध्यान।
तुम - प्रभाव ते होय निदान॥

जैसे नीर सुधा - अनुमान।
पीवत विष - विकार की हान॥

: १८ :

तुम भगवन्त विमल - गुणलीन।
समल - रूप मानहिं मति - हीन॥

ज्यों पीलिया रोग दृग गहै।
वर्ण - विवर्ण शंख सो कहै॥

दोहा

: १९ :

निकट - रहत उपदेश सुन, तरुवर भयो अशोक।
ज्यों रवि ऊगत जीव सब, प्रगट होत भुवि लोक॥

: २० :

सुमन - वृष्टि ज्यों सुर करहिं, हेट बीठ मुख सोहि।
त्यों तुम सेवत सुमन - जन, बन्ध अधोमुख होंहि॥

: २१ :

उपजी तुम हिय उदधि तें, बानी सुधा - समान।
जिहँ पीवत भविजन लहहिं, अजर - अमर पद थान॥

: २२ :

कहहिं सार तिहुँ लोक को, ये सुर - चामर दोय।
भाव - सहित जो जिन नमै, तिहँ गति ऊरध होय॥

: २३ :

सिंहासन गिरि मेरु - सम, प्रभु - धुनि गर्जत घोर।
श्याम सुतनु घनरूप लखि, नाचत भवि - जन मोर॥

: २४ :

छविहत होत अशोक - दल, तुम भा - मण्डल देख।
वीतराग के निकट रह, रहत न राग विसेख॥

: २५ :

सीख कहे तिहुँ लोक को, यह सुर दुंदभि - नाद।
शिव - पथ सारथवाह जिन, भजहु तजहु परमाद॥

: २६ :

तीन छत्र त्रिभुवन उदित, मुक्त - गण छवि देत।
त्रिविधि रूप धर मनहुँ शशि, सेवत नखत समेत॥

पद्धरि छन्द

: २६ :

प्रभु तुम शरीर - दुति रतन - जेम।
परताप—पुंज जिम सुद्ध हेम॥
अति धवल सुजस रूप - समान।
तिनके गढ़ तीन विराजमान॥

: २८ :

सेवहिं सुरेन्द्र कर नमत भाल।
तिन सीस - मुकुट तज देहिं माल॥
तुम चरण लगत लह - लहै प्रीति।
नहिं रमहिं और जन सुमन-रीति॥

: २९ :

प्रभु भोग - विमुख तन कर्म - दाह।
जन पार करत भव - जल निवाह॥
ज्यों माटी - कलश सुपक्व होय।
ले भार अधोमुख तिरहिं तोय॥

: ३० :

तुम महाराज निर्धन निराश।
तज विभव-विभव सब जग विकाश॥
अक्षर स्वभाव सुलिखै न कोय।
महिमा भगवन्त अनन्त सोय॥

: ३१ :

कर कोप कमठ निज वैर देख।
तिन करी धूलि वरषा विसेख॥
प्रभु तुम छाया नहिं भई हीन।
सो भयो आप लंपट मलीन॥

: ३२ :

गरजन्त घोर घन अन्धकार।
चमकन्त बिज्जु जल मुसलधार॥
वरसन्त कमठ धर ध्यान रुद्र।
दुस्तर करन्त निज भव - समुद्र॥

वास्तु छन्द

: ३३ :

मेघमाली-मेघमाली आप बल फोरि,
भेजे तुरन्त पिशाच - गण नाथ पास उपसर्ग कारण,
अग्नि-झाल झलकंत मुख,धुनि करत जिमि मत्तवारण!
कालरूप विकराल तन, मुण्ड - माल तिहँ कण्ठ,
ह्वै निशंक वह रंक निज, करे कर्म दृढ़ गंठ।

चौपाई १५ मात्रा

: ३४ :

जे तुम चरण - कमल तिहुं काल।
सेवहिं तज माया - जंजाल॥

भाव - भगति मन हरष अपार।
धन्य - धन्य तीन जग अवतार॥

: ३५ :

भव - सागर में फिरत अजान।
मैं तुम सुजस सुन्यो नहिं कान॥

जो प्रभु नाम मन्त्र मन धरे।
तासों विपद भुजंगम डरे॥

: ३६ :

मन वांछिज फल निज - पद मांहिं।
मैं पूरव भव सेये नाहिं॥

माया - मगन फिरयो अज्ञान।
करहिं रंक जन मुझ अपमान॥

: ३७ :

मोह - तिमिर छायो दृग मोहि।
जन्मान्तर देख्यो नहिं तोहि॥

तो दुर्जन मुझ संगति गहें।
मर्म - छेद के कुवचन कहें॥

: ३८ :

सुन्यो कान जस पूजे पाय।
नैनन देख्यो रूप अघाय॥
भक्ति हेतु न भयो चित चाव।
दुःखदायक किरिया बिन भाव॥

: ३९ :

महाराज शरणागत - पाल।
पतित - उधारक दीन - दयाल॥
सुमरन करहुँ नाय निज शीश।
मुझ दुःख दूर करहु जगदीश॥

: ४० :

कर्म - निकन्दन महिमा सार।
अशरण - शरण सुजस विस्तार॥
नहिं सेये प्रभु तुमरे पाय।
तो मुझ जन्म अकारथ जाय॥

: ४१ :

सुरगण बंदित दयानिधान।
गज - तारक जगपति अनजान॥
दुःख - सागर ते मोहि निकासि।
निर्भय थान देहु सुख - रासि॥

: ४२ :

मैं तुम चरण - कमल गुन गाय।
बहुविध भक्ति करी मन लाय॥
जन्म - जन्म प्रभु पाऊँ तोहि।
यह सेवा - फल दीजे मोहि॥

दोधकान्त बेसरी छन्द

: ४३ :

इहि विधि श्री भगवन्त, सुजस जे भविजन भासहिं।
ते जन पुण्य - भण्डार संचि, चिर पाप प्रणासहिं॥

: ४४ :

रोम - रोम हुलसंत अंग, प्रभु - गुण मन ध्यावहिं।
स्वर्ग - संपदा भुञ्ज वेग, पंचम - गति पावहिं॥

: ४५ :

यह कल्याण - मन्दिर कियो,
'कुमुद – चन्द्र' की बुद्धि।
भाषा कहत 'बनारसी',
कारण समकित – शुद्धि।

उवसग्ग - हर स्तोत्र

[१]

उवसग्ग - हरं पासं,
पासं वंदामि कम्म - घण - मुक्कं ।
विसहर - विस - निन्नासं,
मंगल — कल्लाण — आवासं ॥

संघ पर होने वाले सब उपसर्गों को दूर करने वाला पार्श्व नामक देव जिनका चरण - सेवक है, जो कर्म - रूप सघन बादलों से मुक्त हो कर प्रकाशमान हैं, जिनके नाम - स्मरण मात्र से सर्प का भयंकर विष सहसा नष्ट हो जाता है और जो मंगल तथा कल्याण के निवास - स्थान हैं, उन भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के चरणों में मैं वन्दन करता हूँ ।

[२]

विसहर - फुलिंग — मंतं,
कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।
तस्स गह - रोग - मारी—
दुट्ठ - जरा जंति उवसामं ॥

सर्प के विष को उतारने के लिए भगवान् पार्श्व-नाथ का पवित्र नाम ही उत्कृष्ट मंत्र है। अतः जो मनुष्य इस नाम - मंत्र को सदा अपने कण्ठ में धारण करता है, उसके दुष्ट ग्रह, भीषण रोग, काल - ज्वर आदि सब - के - सब उपद्रव पूर्णरूप से शान्त - उप-शान्त हो जाते हैं।

[३]

चिट्ठउ दूरे मंत्तो
तुज्झ पणामो वि बहु - फलो होइ।
नर - तिरिएसु वि जीवा
पावंति न दुक्ख - दोहग्गं ॥

हे प्रभो! आपके नाम - मंत्र का जप तो बहुत बड़ी चीज है, यहाँ तो केवल आपको भक्तिपूर्वक किया हुआ नमस्कार ही अमित फल का देनेवाला है। जो आपका भक्त है, वह कभी भी मनुष्य, तिर्यञ्च आदि गतियों में दुःख और दुर्भाग्य नहीं पा सकता। वह जहाँ भी रहेगा, आनन्द में ही रहेगा।

[४]

तुह सम्मत्ते लद्धे,
चिंतामणि - कप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं,
जीवा अयरामरं ठाणं ॥

हे प्रभो ! चिन्तामणि-रत्न और कल्प-वृक्ष से भी अधिक महिमाशाली सम्यक्त्व-श्रद्धा प्राप्त हो जाने पर साधकों को किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वे बड़े आनन्द के साथ बिना किसी भी तरह की विघ्न-बाधा के अजर-अमर मोक्ष-धाम को प्राप्त कर लेते हैं।

[५]

इअ संथुओ महायस !
भत्तिब्भर - निब्भरेण हियएण।
ता देव ! दिज्ज बोहिं,
भवे - भवे पास जिणचंद ॥

हे महायशस्वी श्री पार्श्वनाथ जिनचन्द्र ! इस प्रकार भक्ति - भावना से भरपूर भक्त - हृदय के द्वारा मैंने आपकी यह स्तुति की है। अतएव जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक भव - भव में मुझे बोधि अर्थात् सम्यक्त्व प्रदान करना।

टिप्पणी

यह उपसर्गहर-स्तोत्र आचार्य भद्रबाहु स्वामी की अमर कृति है। जैन स्तोत्र - साहित्य के सुप्रसिद्ध नव - स्मरण में इसका दूसरा स्थान है। प्रथम स्मरण नवकार मन्त्र है, तो दूसरा उपसर्ग हर - स्तोत्र। पाठक इस पर से विचार कर सकते हैं कि उपसर्ग हर - स्तोत्र का जैन - साहित्य में कितना अधिक महत्वपूर्ण स्थान है !

उवसग्ग - स्तोत्र पर विविध मन्त्रों का एक कल्पग्रंथ भी है। परन्तु, उवसग्गहर का मूल मन्त्र वह है, जिसका उल्लेख स्तोत्र की दूसरी गाथा में 'विसहर फुलिंग मंतं' के रूप में किया है। इसी गुप्त मन्त्र का स्पष्ट उल्लेख आचार्य मानतुंग अपने 'नमिऊण स्तोत्र' के अन्त में करते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए यह मन्त्र इस प्रकार है—

'नमिऊण पास, विसहर
वसह जिण फुलिंग।'

उवसग्गहर - स्तोत्र और उसका उपर्युक्त बीज-मंत्र बड़े ही चमत्कारपूर्ण माने जाते हैं। साधक के हृदय में श्रद्धा का बल हो, तो प्रभु का प्रत्येक नाम मन्त्र है। आशा है, पाठक श्रद्धा - सहित उपसर्गहर-स्तोत्र का पाठ कर अपने को तथा अपने जीवन को सफल बनाएँगे।

चिन्तामणि - स्तोत्र

[१]

किं कर्पूर - मयं सुधारसमयं किं चन्द्ररोचिर्मयं,
किं लावण्यमयं महामणिमयं कारुण्यकेलीमयम् ।
विश्वानन्दमयं महोदयमयं शोभामयं चिन्मयं,
शुक्लध्यानमयं वपुर्जिनपतेर्भूयाद् भवालम्बनम् ॥

—भगवान् पार्श्वनाथ का शरीर अत्यन्त सुन्दर और दिव्य था । जिनपति भगवान् पार्श्वनाथ का वह शरीर संसार के प्राणिणयों के लिए आलम्बन रूप था ।

कैसा दिव्य था, वह शरीर ? कपूर से भी अधिक धवल था,सुधा से भी अधिक सरस था, चन्द्रकान्तमणि के समान शीतल और प्रकाशमय था, महामणि के समान उसका लावण्य था, वह साकार करुणामय था, विश्व के समस्त प्राणियों को आनन्द देने वाला था, वह मंगल और सुख देने वाला था, ज्योतिर्मय एवं सुषमामय था और साक्षात् शुक्ल-ध्यान रूप था ।

यहाँ भगवान् के दिव्य रूप का बड़ा ही सुन्दर एवं मनोहर वर्णन किया है।

[२]

पातालं कलयन् धरां धवलयन्नाकाशमापूरयन्,
दिक्चक्रं क्रमयन् सुरासुरनरश्रेणिं च विस्मापयन्।
ब्रह्माण्डं सुखयन् जलानि जलधेः फेनच्छलाल्लोलयन्,
श्री चिन्तामणि - पार्श्वसंभवयशो - हंसश्चिरं राजते॥

—भगवान् चिन्तामणि पार्श्वनाथ का यश समस्त लोक में परिव्याप्त था। प्रस्तुत श्लोक में भगवान् के यश को हंस कहा गया है। जिस प्रकार हंस उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार भगवान् का यश भी उज्ज्वल एवं धवल था।

चिन्तामणि पार्श्वनाथ का यशोरूपी हंस सर्वत्र अव्याहत-गति था, विश्व का वह कौन - सा स्थान है, जहाँ वह न पहुँचा हो ?

उसने अपनी धवलिमा से इस धरा को धवल बनाया, पाताल के घोर अन्धकार को नष्ट किया, समस्त आकाश को उसने पूर दिया। समग्र दिशाओं की सीमा को वह पार कर गया। उसने अपनी उज्ज्वल धवलिमा से स्वर्गवासी देवों को विस्मित किया, पाताल के असुरों को चकित किया और भू-लोक के मानवों को स्तब्ध किया। उसने अपनी लीलाओं से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सुखी बना दिया। उसने जलधि

की जलराशि को झकझोर कर फेनमय कर डाला। भगवान् पार्श्वनाथ का वह यशोहंस चिर-काल तक सुशोभित होता रहे।

[३]

पुण्यानां विपणिस्तमोदिनमणिः कामेभकुम्भे सृणिः
मोक्षे निस्सरणिः सुरद्रुकरिणी ज्योतिः प्रकाशारणिः।
दाने देवमणिर्नतोत्तमजनश्रेणिः कृपा - सारिणिः,
विश्वानन्दसुधाघृणिर्भवभिदे श्रीपार्श्वचिन्तामणिः॥

—चिन्तामणि पार्श्वनाथ, समस्त सुखों के केन्द्र-स्थान हैं। संसार के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान हैं। कामरूपी मदोद्धत गज को वश में करने के लिए अंकुश के समान हैं। मोक्षरूपी प्रासाद पर चढ़ने के लिए सोपानरूप हैं। कल्पवृक्ष के समान भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं। कर्म से आवृत ज्ञान - रूप ज्योति को प्रकाशित करने में अरणि के तुल्य हैं। दान देने में इन्द्र से भी अधिक उदार हैं। अपने भक्त - जनों पर कृपा रखने के लिए सदा तत्पर हैं। विश्व में आनन्दरूप अमृत की तरंग के समान हैं।

भगवान् चिन्तामणि पार्श्वनाथ के स्वरूप का ध्यान करने से और नाम का जप करने से संसार के समस्त संकटों का अन्त हो जाता है।

[४]

श्रीचिन्तामणिपार्श्व विश्वजनता - संजीवनस्त्वं मया,
दृष्टस्तात ! ततः श्रियः समभवन्नाशक्रमाचक्रिणम् ।
मुक्तिः क्रीडति हस्तयोर्बहुविधं सिद्धं मनोवांछितं,
दुर्दैव दुरित च दुर्दिनभयं कष्टं प्रणष्टं मम ॥

—प्रभो ! आप चिन्तामणि-रत्न के समान अभीष्ट फल प्रदान करने वाले हैं। यथार्थरूप में आप ही चिन्तामणि हैं। क्योंकि विश्व के समस्त प्राणियों के जीवन - संरक्षण के लिए आप संजीवन के तुल्य हैं।

मैंने जब से आपके स्वरूप का ध्यान और नाम का जप किया है, तब से मुझे सर्व प्रकार के सुख उपलब्ध हुए हैं।

मुझे क्या कुछ नहीं मिला ? आपकी कृपा से मुझे सब कुछ मिला। इन्द्र का ऐश्वर्य मिला, चक्रवर्ती जैसी ऋद्धि मिली और साधकों की सिद्धि (मुक्ति) भी मेरे हाथों में खेल रही है। अनेक प्रकार के मनोरथ मेरे सिद्ध हुए हैं।

प्रभो ! आपकी कृपा से ही मेरा दुर्भाग्य, मेरा बुरा समय, मेरा पाप और मेरा भय एवं कष्ट—सब नष्ट हो गए हैं, चकनाचूर हो गए हैं।

[५]

यस्य प्रौढ़तम - प्रतापपनः प्रोद्दामधामा जगज्,
जङ्घाल· कलिकालकेलिदलनो मोहान्धविध्वंसकः।
नित्योद्योतपदं समस्तकमलाकेलीगृहं राजते,
स श्रीपार्श्वजिनो जने हितकरश्चिन्तामणिःपातु माम् ॥

—संसार के समस्त जीवों का कल्याण करने वाले भगवान् चिन्तामणि पार्श्वनाथ, मेरी रक्षा करें।

भगवान् पार्श्वनाथ, अतिशय प्रताप वाले हैं। संसार के समस्त विकट संकटों का क्षय करने वाले हैं। कलिकाल की लीला को नष्ट करने वाले हैं। मोहरूपी अन्धकार के विध्वंसक हैं। भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति करने वाले भक्त के घर में सदा लक्ष्मी का वास और प्रकाश रहता है।

[६]

विश्वव्यापितमो हिनस्ति तरणिर्बालोपि कल्पांकुरो,
दारिद्र्याणि गजावलीं हरिशिशुःकाष्ठानि वह्नेः कणः।
पीयूषस्य लवोऽपि रोगनिवहं यद्वत्तथा ते विभो,
मूर्तिः स्फूर्तिपतो - सती त्रिजगती-कष्टानि हतुं क्षमा ॥

—प्रौढ़सूर्य तो क्या, बालसूर्य भी विश्व में व्याप्त अन्धकार को नष्ट कर डालता है। कल्पवृक्ष तो क्या, उसका एक नन्हा - सा अंकुर भी दरिद्रता को दूर कर देता है। सिंह तो क्या, सिंह का छोटा - सा शिशु भी

गज - घटा को छिन्न-भिन्न कर देता है। आग की एक छोटी - सी चिनगारी भी हजारों मन काष्ठ के ढेर को जला कर खाक कर देती है। अमृत का एक बिन्दु भी हजारों रोगों को नष्ट कर डालता है। इसी प्रकार आप त्रिभुवन के कष्टों को समाप्त कर सकते हैं।

[७]

श्री चिन्तामणिमन्त्रमोंकृति - युतं ह्रींकारसाराश्रितं,
श्रीमर्हन्नमिऊणपासकलितं त्रैलोक्य - वश्यावहम्।
द्वेधाभूतविषापहं विसहरं श्रेयः - प्रभावाश्रयं,
सोल्लासं वसहाङ्कितं जिनफुलिंगानन्ददं देहिनाम्॥

—चिन्तामणि मन्त्र में अद्भुत शक्ति है। जो भक्त शुद्ध मन से उसका जप करता है, निश्चय ही उसका कल्याण होता है। उसे परम सुख प्राप्त होता है।

चिन्तामणि मन्त्र 'ॐ' शब्द की आकृति वाला है। ह्रींकार से युक्त है। 'श्रीं' से सम्पन्न है। 'अर्हं' से वेष्टित है। 'नमिऊण' से बद्ध है। यह मन्त्र तीनों लोकों को वश में करने वाला है। विषय-रूप विष को दूर करने वाला है। सर्प आदि के विष का हरण करने वाला विषहर है। कल्याण करने वाला है। प्रभाव एवं यश बढ़ाने वाला है। व,स,ह—इन अक्षरों से युक्त मन्त्र ऋद्धि - सिद्धि और मुक्ति देने वाला है।

[८]

ह्रीं श्रींकारवरं नमोऽक्षरपरं ध्यायन्ति ये योगिनो,
हृत्पद्मे विनिवेश्य पार्श्वमधिपं चिन्तामणीसंज्ञकम् ।
भाले वामभुजे च नाभिकरयोर् भूयो भुजे दक्षिणे,
पश्चादष्टदलेसु ते शिवपदं द्वित्रैर्भवैर् यान्त्यहो ।।

—चिन्तामणि मन्त्र की महिमा अपार है। प्रभाव अद्भुत है।

ह्रींकार एवं श्रींकार से समन्वित और अन्त में नमः अक्षर से युक्त तथा चिन्तामणिसंज्ञक भगवान् पार्श्वनाथ को जो योगी एवं साधक - जन अपने हृदय में धारण करके ध्यान करते हैं, वे अवश्य ही परम सुख को प्राप्त करते हैं। चिन्तामणिरत्न की तरह जो साधक चिन्तामणि मन्त्र को अपने भाल पर, बांई भुजा पर, दाहिनी भुजा पर, नाभि पर और दोनों हाथों में धारण करके फिर अष्ट - दल कमल में, जो प्रभु का ध्यान करते हैं, वे मनुष्य दो - तीन भवों में ही शिवपद प्राप्त कर लेते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

[९]

नो रोगा नैव शोका
न कलह - कलना,
मारि - मारि - प्रचाराः ।
नवाधिर्नोसमाधिर्,
न च दर - दुरिते,
दुष्ट - दारिद्रता नो ॥
नो शाकिन्यो ग्रहा नो,
न हरि - करि - गणाः
व्याल - वैताल - जालाः ।
जायन्ते पार्श्व चिन्ता-
मणि - नति - वशतः,
प्राणिनां भक्ति - भाजाम् ॥

—भगवान् चिन्तामणि पार्श्वनाथ की भक्ति करने वाले भक्तों के जीवन में सदा आनन्द - मंगल और सुख रहता है।

भगवान् के भक्त के जीवन में न कभी रोग आता है, न कभी शोक आता है और न कभी कलह आता है। अरि और मारि का भय भी नहीं रहता ! वे आधि, व्यधि और उपाधि के ताप से कभी तापित नहीं होते। पाप और दरिद्रता वहाँ कभी नहीं रहते। भूत - प्रेत, पिशाच और ग्रह का भय नहीं रहता। सर्प, सिंह और

गज का भी भय नहीं रहता। भगवान् के भक्त सब प्रकार के भयों में मुक्त रहते हैं।

[१०]

गीर्वाणद्रुमधेनु - कुम्भमणयस्तस्याङ्गणे रिङ्गणो,
देवा दानव - मानवाः सविनयं तस्मै हितं ध्यायिनः।
लक्ष्मीस्तस्य वशाऽखिलेव गुणिनां ब्रह्माण्ड - संस्थायिनी,
श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथमनिशं संस्तौति योऽध्यायति॥

—भगवान् चिन्तामणि पार्श्वनाथ का जो भक्त शुद्ध हृदय से प्रतिदिन उनकी स्तुति करता है और ध्यान करता है, उसके घर के आँगन में सदा कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ और चिन्तामणिरत्न अठखेली करते रहते हैं। उस भक्त को दानव कभी भय नहीं देते, देव सदा उसकी सहायता करते हैं और मनुष्य सदा उसकी सेवा करते हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ के भक्त के घर में सदा लक्ष्मी का वास रहता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की लक्ष्मी उसके वश में हो जाती है। उस भक्त के सभी संकल्पों और मनोरथों की पूर्ति हो जाती है।

[११]

इति जिनपति - पार्श्वः, पार्श्वपार्श्वाख्ययक्षः,
प्रदलित - दुरितौघः प्रीणित - प्राणि - सार्थः।
त्रिभुवन - जनवाञ्छा - दान - चिन्तामणीकः,
शिवपद - तरुबीजं बोधिबीजं ददातु ॥

—भगवान् पार्श्वनाथ की शुद्ध भक्ति से लौकिक सुख ही नहीं, अध्यात्म-सुख भी मिलता है।

पार्श्व नाम का यक्ष जिनका सेवक है, ऐसे जिनपति पार्श्वनाथ, जिन्होंने अपने समस्त कर्मों को क्षय करके परम शुद्धि प्राप्त की और संसार के समस्त प्राणियों को सुख प्रदान किया, और जो विश्व के समग्र जीवों की इच्छापूर्ति करने में चिन्तामणि-रत्न के समान हैं, वे भगवान् पार्श्वनाथ मुझे मोक्षरूपी वृक्ष के लिए बीज-भूत शुद्ध सम्यक्त्व प्रदान करें।

●

चिन्तामणि स्तोत्र भाषा

कल्पवेल चिन्तामणि,
कामधेनु गुणखान ।
अलख अगोचर अगमगति,
चिदानन्द भगवान् ॥१॥

परम - ज्योति परमात्मा,
निराकार अविकार ।
निर्भयरूप ज्योति स्वरूप,
पूरण ब्रह्म अपार ॥२॥

अविनाशी साहिब धनी,
चिन्तामणि श्रीपास ।
विनय करूँ करजोड़ के,
पूरो वांछित आस ॥३॥

मनचिन्तित आशा फले,
सफल सिद्ध हों काम ।
चिन्तामणि का जाप जप,
चिन्ता हरे यह नाम ॥४॥

तुम सम मेरे को नहीं,
चिन्तामणि भगवान् ।
चेतन की यह वीनती,
दीजो अनुभव ज्ञान ॥५॥

प्राणत देवलोक से आए ।
जन्म बनारस नगरी पाए ॥
अश्वसेन कुल मण्डल स्वामी ।
तिहुँ जग के प्रभु अन्तरयामी ॥६॥

वामादेवी माता के जाए ।
लंछन नागफणी मणि पाए ॥
शुभ काया नव हाथ बखानो ।
नील वरण तनु निर्मल जानो ॥७॥

मानव यक्ष सेवे प्रभु पाय ।
पद्मावती देवी सुखदाय ॥
इन्द्र चन्द्र पारस गुण गावें ।
कल्प-वृक्ष चिन्तामणि पावें ॥८॥

नित सुमरों चिन्तामणि स्वामी ।
आशा पूरे अन्तरयामी ॥
धन - धन पारस पुरुषादानी ।
तुमसमजगमें को नहीं नाणी ॥९॥

तुमरो नाम सदा सुखकारी।
सुख उपजे दुख जाय बिसारी ॥
चेतन को मन तुमरे पास।
मन वांछित पूरो प्रभु आस ॥१०॥

ॐ भगवंत चिन्तामणि,
पार्श्व प्रभू जिनराय।
नमो-नमो तुम नाम से,
रोग - शोक मिट जाय ॥११॥

बात - पित्त दूरे टले,
कफ नहीं आवे पास।
चिन्तामणि के नाम से,
मिटे खाँस और श्वास ॥१२॥

प्रथम, दूसरो, तीसरो,
ताव चौथियो जाय।
शूल बहत्तर परिहरे,
दाद - खाज विनसाय ॥१३॥

विस्फोटक गड़-गूँबड़ा,
कोढ़ अठारह दूर।
नेत्र - रोग सब परिहरे,
कण्ठ - माल चकचूर ॥१४॥

चिन्तामणि के जाप से,
रोग - शोक मिट जाय।
चेतन पारस नाम को,
सुमरो मन - चित् लाय ॥१५॥

मन शुद्धे सुमरो भगवान्।
भय-भंजन चिन्तामणि ध्यान॥
भूत - प्रेत - भय जावे दूर।
जाप जपे सुख - सम्पत्ति पूर ॥१६॥

डाकण - साकण व्यन्तरदेव।
भय नहीं लागे पारस-सेव॥
जलचर-थलचर उरपुर जीव।
इनको भय नहीं सुमरो पीव ॥१७॥

बाघ-सिंह को भय नहीं होय।
सर्प गोह आवे नहीं कोय॥
बाट-घाट में रक्षा करे।
चिन्तामणि चिन्ता सब हरे ॥१८॥

टोना - टामन जादू करे।
तुमरो नाम लियां सब डरे॥
ठग फांसीगर तस्कर होय।
द्वेषी दुश्मन नावे कोय ॥१९॥

भय सब भागे तुमरे नाम ।
मन - बांछित पूरो सब काम ।
भय - निवारण पूरे आस ।
चेतन जपे चिन्तामणि पास ॥२०॥

चिन्तामणि के नाम से,
सकल सिद्ध हो काम ।
राज - ऋद्धि रमणी मिले,
सुख - सम्पत्ति बहु दाम ॥२१॥

हय, गय, रथ, पायक मिले,
लक्ष्मी का नहीं पार ।
पुत्र - कलत्र मंगल सदा,
पावे शिव दरबार ॥२२॥

चेतन चिन्ता हरण को,
जाप जपे तिहुँ काल ॥
कर आंबिल षट् मास को,
उपजे मंगल - माल ॥२३॥

पारस नाम — प्रभाव से,
बाढ़ें बल बहु ज्ञान ।
मन - वांछित सुख उपजे,
नित सुमरो भगवान् ॥२४॥

संवत् अठारा ऊपरे,
साढत्रीस को परिमाण ।
पौष शुक्ल दिन पंचमी,
वार शनिश्चर जान ॥२५॥

पढ़े - गुणे जो भाव से,
सुने सदा चित लाय ।
'चेतन' सम्पति बहु मिले,
सुमरो मन - वच - काय ॥२६॥

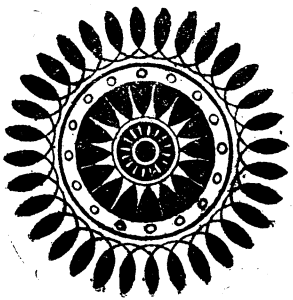

स्तोत्र - साहित्य

१.	भक्तामर - स्तोत्र	२.००
२.	कल्याण - मन्दिर	३.००
३.	वीर - स्तुति	१.५०
४.	मंगलवाणी	१०.००
५.	मंगल-पाठ	१.००
६.	आलोचना-पाठ	२.००
७.	अर्हत् वन्दना	२.००

सन्मति ज्ञानपीठ

लोहामण्डी, आगरा–२८२००२ (उ. प्र.)

शाख रा (शाख रा (